पाणिनि–प्रोक्त समाजव्यवस्थापरक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की डी.फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

गवेषक

रामचन्द्र पाण्डेय

निर्देशक

डॉ० कौशल किशोर श्रीवास्तव

उपाचार्य, संस्कृत- विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
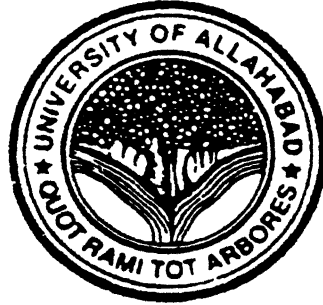
संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००१

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।

मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।।

-श्रीराम चरित मानस, बा.का.१

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्

विश्व के इस विशाल क्रीडाड्गन मे कोटि—कोटि चराचर प्राणियो के विविध आकार, भाषा वेश और व्यवहार को देखकर हरहराती हुई द्रुतगामिनी शैलापगाओ को अपने क्रोड से प्रवाहित करने वाले, लक्ष—लक्ष वनस्पतियो और हिमराशियो से मण्डित, अनन्त रहस्यो के आकरभूत, गगनचुम्बी भूधरो को देखकर, अपनी उत्ताल दुर्दान्त तरगो से ताण्डव करते हुए अनवगाह्य अगाध नीलसागर को देखकर तथा निशीथ मे नक्षत्रमाला खचित अनन्तनीलाकाश को देखकर सहृदय कवियो एव विज्ञानियो का मन एक साथ आकर्षित होता है। विज्ञानी अपने ज्ञान को इन रहस्यो को जानने मे सलग्न करता है जबकि कवि इस प्रकृतिक सुषमा को देखकर अपनी लेखनी से समाज के प्रत्येक विन्दुओ पर ध्यान देते हुए वाड्मय की रचना करता है। इसीलिए कहा जाता है कि समस्त लिपिबद्ध मानव चेष्टा ही वाड्मय है जबकि काव्य सहृदय हृदय सवेद्य होता है। **'वाचः विकारः स एव वाड्मयम्'** कहा जाता है। यही से व्याकरण का कार्य शुरु होता है। व्याकरण भाषा मे एव लोको मे प्रचलित शब्दो के आधार पर नियमो का निर्माण करता है।

व्याकरण भाषा का मेरुदण्ड है। वेदाड्गो मे उसका स्थान सर्वोपरि है— **'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'।** शुद्ध उच्चारण, पूर्ण अर्थ—बोध एव सम्यक् अभिव्यक्ति की दृष्टि से व्याकरण की सत्ता तथा महत्ता सर्वथा अक्षुण्ण है। वेद से लेकर आज तक सम्पूर्ण साहित्य का यथार्थवोध व्याकरणाधीन है। व्याकरण के क्षेत्र मे शोध प्राचीन ज्ञान का नूतन ज्ञान से सामञ्जस्य स्थापित करता है।

विश्व की किसी भी भाषा का व्याकरण इतना सुव्यवस्थित पूर्ण और वैज्ञानिक नही है जितना सस्कृत भाषा का। सस्कृत व्याकरण परम्परा का अध्ययन प्राचीन है, जिसकी चरम परिणति पाणिनीय अष्टाध्यायी मे देखने को मिलती है। लोक ही व्याकरण का सबसे महान् आवपन या थैला

है। जो शब्दो के अपरिमित भण्डार से भरा रहता है, उस लोक के प्रति आचार्य पाणिनि की बढी हुयी निष्ठा एव श्रद्धा थी। लोक प्रमाण जिसे सञ्ज्ञा प्रमाण कहा गया है के आधार पर ही आचार्य ने अपने महान् शास्त्र की रचना की। लोक के विषय मे पाणिनि की गाढी श्रद्धा ही अष्टाध्यायी की बहुमुखी सास्कृतिक सामग्री का सेतु है। इस दृष्टि को लेकर आचार्य के नेत्रो मे अभूतपूर्व तेज भर गया था। गुप्त—प्रकट जो शब्द सामग्री जहॉ थी वह सब उन्हे उस प्रकार से प्रतिभासित हो गई जैसी पुराकाल के अन्य किसी आचार्य को नही हुयी थी। शब्दो की खोज मे लोक का तिल—तिल परिचय, जिसे व्याख्याकारो ने सूक्ष्मेक्षिका कहा है, पाणिनीय कार्य शैली की विशेषता थी और इसी से सर्वाङ्ग पूर्ण शास्त्र का जन्म हुआ। वैयाकरण के लिये महाभारत मे लिखा है—

''सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शीभवेन्नरः।''

महाभारत उद्योग पर्व ४३/३६ सब अर्थो का व्याकरण विवेचन, निर्वचन, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् स्पष्टीकरण एव इसका प्रयत्न करना ही वैयाकरण का कार्य है। सर्वार्थ शब्द की व्यञ्जना दूर तक है, इसमे जो जितनी अधिक सामग्री भर सके वही उसकी सफलता है। पाणिनि ने लोक मे प्रचलित अनेक अर्थो के व्याकरण को जो समन्तात् प्रयत्न किया, वह अष्टाध्यायी के सूत्रो मे शाश्वत्—काल के लिये निहित है। आचार्य पाणिनि द्वारा उपज्ञात यह महत् एव सुविहित शास्त्र विश्व मे आश्चर्य की दृष्टि से देखा जाता है। पाणिनि के सूत्रो की शोभना कृति और अर्थगौरव स्वयभू शिवधाम के समान अनन्त कृति है। शताब्दियो के विस्तृत अन्तराल ने उसकी महिमा का सवर्धन ही किया है और यावच्चन्द्रदिवाकरौ पाणिनि का यह शब्दशास्त्र लोक मे प्रवर्द्धमान रहेगा।

आचार्य पाणिनि का यह शास्त्र तत्कालीन समाजव्यवस्था का भी सुन्दर निदर्शन है। सूत्रगत अनेक शब्द है जिनसे आचार्य ने तत्कालीन सस्कृति की सूक्ष्म छान—बीन की थी, इसके लिये उन्हे मानव जीवन के प्राय सम्पूर्ण व्यवहारो की जाच पडताल करनी पडी। इस प्रकार पाणिनीय

शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और सस्कृति का कोश ही बन गया है। सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, धार्मिक जीवन, राजनैतिक जीवन शिक्षा एव विद्या सम्बन्धी जीवन एव भौगोलिक विवरण सबके विषय मे पाणिनि ने राई–राई करके सामग्री का सुमेरु ही खडा कर लिया है।

अद्यावधि इस ग्रन्थ पर अनेक मनीषियो, अध्येताओ एव व्याख्याताओ ने अपने–अपने ढग से अनेक प्रकार से व्याख्या किया है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध 'पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्थापरक शब्दो का आलोचनात्मक अध्ययन' मे मैने अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त तत्कालीन समाज व्यवस्थापरक शब्दो का अन्वेषण कर एव एकत्रित करके उन शब्दो के माध्यम से तत्कालीन समाज को समझने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि प्रस्तुत अध्ययन की आधारशिला अष्टाध्यायी है और महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्त कौमुदी प्रभृति ग्रन्थ गवेषणीय चिन्तन को सुदृढता प्रदान करने वाले है। निष्कर्षो के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण हेतु प्राचीन भारतीय सस्कृति से सम्बन्धित एव भौगोलिक शब्दो की व्याख्या हेतु भूगोल की पुस्तको का भी अध्ययन किया गया है और इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भारतीय चिन्तन परम्परा का वैज्ञानिक दिशा मे अग्रसर होने का प्रयास है। इस देश मे व्याकरण का अध्ययन परम कोटि को पहुँच गया था। इस क्षेत्र मे गुरु–शिष्य पारम्पर्य से पूर्व समय मे जितना कार्य हुआ था और अर्वाचीन विद्वानो ने उसमे जो कुछ जोडा है प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे उन सभी की सहायता शोध प्रबन्ध को प्रामाणिक बनाये रखने हेतु ली गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करते हुये आज मैं गुरुवर स्व डा वीरेन्द्र कुमार सिह जी की आत्मा की शान्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करते हुए अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

अपृथग्दर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्र अवन्ध्य फल होता है, परन्तु ऐसे उपदेष्टा जन्म–जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य से ही मिलते है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे अध्ययन के उषकाल से ही मै डा कौशल किशोर श्रीवास्तव जी से प्रभावित रहने लगा और गुरुवर ने भी गुरुकृपा

प्रदान की। अस्तु शोध निर्देशक के रुप मे डा श्रीवास्तव जी का साथ मेरे लिये परम सौभाग्य का रहा। आपने पुत्रवत् वात्सल्य देते हुय बहुमूल्य सन्निर्देश देने की कृपा की और इसी का परिणाम प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है। उनकी महती कृपा को मै लेखनी से व्यक्त करने मे असमर्थ हूँ, केवल इतना ही कह पा रहा हूँ कि गुरुऋण से उऋण होकर भी मै उनसे उऋण नहीं हो सकता।

सस्कृत विभाग की विभागाध्यक्षा प्रो मृदुला त्रिपाठी जी का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होने मातृवत् स्नेह देते हुए समय–समय पर बहुमूल्य सुझावो से मुझे लाभान्वित किया, इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने मे उन सुझावो का अत्यधिक योगदान रहा। मै अपने उन समस्त गुरुजनो का हृदय से आभारी हूँ जिनकी उँगली पकडकर मैने ज्ञान–पथ पर लडखडाते कदमो को स्थिर करके चलना सीखा।

स्वर्गादपि गरीयसी ममताप्लावित पूजनीया जननी श्रीमती सरस्वती देवी एव पूज्यपाद पितृ महाभाग श्री हीरालाल पाण्डेय (प्रवक्ता, अर्थशास्त्र) को कृतज्ञता ज्ञापित करने की मै धृष्टता नही कर सकता। अनेक झझावतो को अडिग चट्टान की भॉति झेलकर मुझे निष्कण्टक अध्ययन करने के लिये उत्प्रेरित करने वाले पूजनीया एव पूज्यपाद मातृ–पितृ आशीर्वाद के फलस्वरुप ही यह शोधकार्य पूर्ण हो सका। इनसे तो मै जन्मान्तर मे भी उऋण नही हो सकता, लेकिन यदि पुनर्जन्म होता है तो मै पुन इसी कुक्षि मे जन्म लेना चाहूँगा। पूज्य पितृव्य श्री रामकृष्ण पाण्डेय, श्री विष्णुदत्त पाण्डेय, श्री बजरग लाल पाण्डेय एव श्री अवधेश प्रताप पाण्डेय का भी हृदय से नमन करता हूँ। आप सभी, मै जब भी इलाहाबाद से घर जाता तो मेरे ऊपर शोध कार्य को पूर्ण करने के लिए अत्यधिक दबाव डालते। आज इस कार्य को पूर्ण करते हुये मै आप सभी से केवल आशीर्वाद की आकाक्षा रखता हूँ। परिणीता श्रीमती मधुबाला पाण्डेय एम ए (समाजशास्त्र) ने गार्हस्थ्य जीवन के दौरान भूरिश इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिये प्रेरित किया। इन्हे कुछ भी कहना केवल आत्मश्लाघा होगी।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे जिन मित्रो का योगदान रहा उनमे सर्वप्रथम श्री बजरगी मिश्र एम ए (प्राचीन इतिहास), बी एड है जिन्होने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे सराहनीय योगदान दिया। स्नातक कक्षा से अद्यावधि आप मेरे कक्षसहभागी है। वर्तमान युग मे सन्मित्र मिलना दुर्लभ है लेकिन आपने सदैव एक सच्चे मित्र के रुप मे अपने को प्रस्तुत किया, मै इनका ह्रदय से आभारी हूँ। इनके भतीजे चि जीतेन्द्र बहादुर मिश्र तो केवल आशीर्वाद के पात्र है। इनके अतिरिक्त श्री हरिनाथ मिश्र, श्री सन्तोष कुमार उपाध्याय (सहायक अभियोजन अधिकारी) श्री रत्नाकर तिवारी, श्री सुरेन्द्र नाथ मिश्र, श्री शैलेन्द्र कुमार यादव, डा कपूर कुमार पाण्डेय, श्री जय सिह (प्रवक्ता राजकीय महाविद्यालय), श्री सत्य नारायण पाण्डेय आदि का भी योगदान अविस्मरणीय है।

पुस्तकालयाध्यक्ष एवं पुस्तकालय के अन्य कर्मचारियो के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने शोध हेतु अनेक प्रकार के ग्रन्थो को उपलब्ध कराया। प्रत्यक्ष एव परोक्ष रुप से जिन ग्रन्थो का लाभ इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे प्राप्त किया उनके लेखकों के प्रति भी मै निश्चित रूप से कृतज्ञ हूँ। इस शोध प्रबन्ध को बडे ही कौशल से टकित करने के लिये श्री रुपेश कुमार श्रीवास्तव जी भी धन्यवाद के पात्र है। चिन्तन के प्रति मेरी श्रद्धा तथा विश्वास का मूर्तरुप प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध है। अन्त में महाकवि कालिदास के शब्दो के साथ

पुराणमित्येव न साधु सर्व,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्तरद्भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

मालविकाग्निमित्रम् १/२

विनयावनत
रामचन्द्र पाण्डेय
RPandey
22/12/2001

- अक्षय नवमी
सम्वत् २०५८ विक्रमी
तदनुसार
२३ नवम्बर २००१

प्रथम-सोपान

प्रथम-सोपान

व्याकरण शास्त्र की परम्परा

सस्कृत के माध्यम से जैसी एकता स्थापित हुई है वह अन्य किसी माध्यम द्वारा सम्पन्न नही हुई। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, आयुर्वेद, विज्ञान, गणित, इतिहास, दर्शन आदि प्राचीन भारत की ज्ञान–विज्ञान की समस्त सामग्री संस्कृत भाषा मे उपलब्ध है। हमारी सभ्यता और सस्कृति की परम्पराए इसी भाषा के माध्यम से हमारे सामाजिक जीवन को समृद्धि प्रदान करती है। युगो की सञ्चित अनमोल साहित्यिक सम्पदा, सहस्रो वर्षो का गौरवपूर्ण इतिहास तथा आध्यात्मिक ज्ञान की अखण्ड ज्योति से जाज्वल्यमान यह धरोहर मानव मात्र के लिए कामधेनु बनी हुई है। हिन्दी के साथ–साथ देश के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचलित सभी भाषाओ को समृद्ध बनाने मे आज भी इस भाषा का अपूर्व योगदान है।

सस्कृत का व्याकरण अपने मे इतना पूर्ण है कि भाषा या शब्द निर्माण मे इसका अपना ही महत्व है। व्याकरण के अध्ययन के बिना सस्कृत भाषा का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। छहो वेदाङ्गो मे व्याकरण को ही प्रधानता दी गयी है। 'प्रधान च षट्ष्वङ्गेषु व्याकरणम्।' अति प्राचीन काल से ही सस्कृत मे उत्तमोत्तम व्याकरणो की रचना की गयी। यही कारण है कि इस देश मे व्याकरण को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया और व्याकरण की अभिवृद्धि के साथ–साथ भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति उत्तरोत्तर बढती गयी।

व्याकरण सम्मत होने के कारण ही सस्कृत भाषा का स्वरूप अब तक ज्यो का त्यो बना रहा। यदि इसे व्याकरण के नियमो से इतना अनुशासित न किया गया होता तो सम्भवत इसका यह स्वरूप आज हमे

देखने को नही मिलता। जो भाषा व्याकरण के नियमो से अनुशासित नही होती, उसका रूप विकृत हो जाना स्वाभाविक ही है। सस्कृत मे जो शक्तिग्राहकता दिखायी देती है वह व्याकरण के कारण ही है।

भाषा मानव–मात्र के लिए भावो एव विचारो के पारस्परिक आदान–प्रदान का सर्वोत्तम साधन है। मनुष्य जाति को यह बहुत बडी ईश्वरीय देन है। शब्दो के समुदायभूत वाक्यो से भाषा बनती है, इसके अभाव मे लोक–यात्रा असम्भव–प्राय ही है। इसी कारण दण्डी सदृश मनीषी ने 'शब्द' को, लोक को प्रकाशित करने वाली वह ज्योति कहा है जिसके अभाव मे सारा विश्व अविद्यान्धकार मे डूब जाता है।[१]

व्याकरण का भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा की सार्थक इकाई 'शब्द' के प्रकृति–प्रत्ययादि का विवेचन ही तो व्याकरण है :– "व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयोऽनेन अस्मिन् वा तद् व्याकरणम्" (वि+आङ्+कृ+ल्युट्)। व्याकरण का उद्देश्य है प्रकृति प्रत्यययादि के विवेचन द्वारा शब्द के वास्तविक या सही रूप का स्पष्ट निर्धारण करके असाधु शब्द निराकरण पूर्वक शिष्ट जनोचित शब्द प्रयोग का ज्ञान प्रदान कराना। तात्पर्य यह है कि व्याकरण को बिना पढे और जाने शिष्ट या सस्कृत वाणी वाला होना असम्भव है। इस शास्त्र की इसी महती उपयोगिता के कारण ही–

"यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।

स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत।।"

जैसी अनेकानेक उक्तिया प्रचलित हो गई। दन्त्य स् के स्थान पर अज्ञान अथवा अनभ्यास–वश भी तालव्य श् के उच्चारण–मात्र से 'स्वजन' अर्थात् आत्मीय जन 'श्वजन' अर्थात् कुत्ते के समकक्ष, 'सकल' के स्थान मे उच्चारित 'शकल' से समस्त का भाव न प्रकट होकर टुकडे का भाव प्रकट होगा, 'सकृत्' एक बार का वाचक न होकर 'शकृत' अनभिप्रेत मल, विष्ठा

---

१ **"इदमन्धं तम कृत्स्न जायेत् भुवनत्रयम्।**
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारन्न दीप्यते।" (काव्यादर्श १/३)

अर्थ देने लगेगा। व्याकरण शास्त्र की इस उपयोगिता की ओर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने सकेत किया है– "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधान च षडङ्गेषु व्याकरणम्।" वस्तुत व्याकरण ही शब्दो का शुद्ध उच्चारण सिखाता है, उनके प्रकृति प्रत्ययादि का बोध कराकर उनके शुद्ध रूप एव सही अर्थ मे प्रयोग का ज्ञान कराता है, एव शब्दत्वावशब्दत्व–साधु एव असाधु शब्द का निर्धारण करके पुरुष को शिष्ट एव सस्कृत बनाता है।

'व्याकरण' शब्द 'वि' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से करण, अधिकरण और भाव मे 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है। इसके व्युत्पत्ति मूलक तीन अर्थ सम्भव है– क वह शास्त्र जिसके द्वारा शब्दो का अनुशासन किया जाय (करण कारक को आधार मानकर), ख वह शास्त्र जिसमे शब्दो का अनुशासन किया जाय (अधिकरण कारक को आधार मानकर) ग शब्दो के अनुशासन की प्रक्रिया (भाव अर्थ में)।

पतञ्जलि ने 'व्याकरण' के शब्दार्थ का विवेचन करते हुए 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' अर्थात् व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य (उदाहरण) और लक्षण (सूत्र) दोनो किया है। तात्पर्य यह है कि व्याकरण वह शास्त्र है जिसमे सूत्रो, रूप नियमो के द्वारा शब्दों की प्रकृति प्रत्यय का निर्धारण करते हुए इनके साधु रूप का ज्ञान कराया जाय।

व्याकरण–सम्बन्धी नियमो के प्रतिपादक ग्रन्थों को व्याकरण–शास्त्र कहते है। शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टो' धातु से निष्पन्न है, अर्थात् व्याकरण का अनुशासन या उपदेश करने के कारण ही ये ग्रन्थ शास्त्र कहलाने के अधिकारी है।

व्याकरण की उत्पत्ति एवं प्राचीनता

हम लौकिक जगत मे देखते है कि एक वस्तु किसी एक परिस्थिति मे अनेक व्यक्तियो के प्रत्यक्ष का विषय बनती है। तब उस स्थिति मे उस

वस्तु की वास्तविक स्थिति एव सत्ता मे तो कोई अन्तर नही आता, परन्तु अनेक द्रष्टा पुरूषो के द्वारा उसके वर्णन करने मे उनकी योग्यता एव व्यक्तिगत भावना के कारण पर्याप्त अन्तर आ जाता है। कुछ सीमा तक वह बात व्याकरण शास्त्र के साथ भी लागू होती है। इसके अतिरिक्त बदलते हुए समय के प्रवाह मे विभिन्न युगो मे भिन्न–भिन्न मनीषी विद्वानो ने इस विषय मे अपने ग्रन्थो का प्रणयन किया और उनके द्वारा प्रदत्त नामो या उन्ही प्रणेताओ के नामो पर व्याकरण ग्रन्थो का आज हमे ज्ञान है।

व्याकरण शास्त्र के विषय मे एक यह विशेषता है कि सभी आचार्यो के द्वारा प्रकृति–प्रत्यय रूप विभाग की कल्पना समान रूप से की गई है, हॉ भेद केवल इतना है कि किसी आचार्य ने शब्द विशेष की व्युत्पत्ति मे अन्तर प्रदर्शित करते हुए किसी भिन्न धातु (प्रकृति) से भिन्न प्रत्यय की कल्पना करके उस शब्द का प्रणयन किया तथा अन्य आचार्य ने उसे किसी अन्य धातु एवं प्रत्यय से निष्पन्न किया।

व्याकरण का मूल रूप

व्याकरण शास्त्र का मूल रूप हमे ऋग्वेद के अन्तिम चरण से ही दृष्टिगत होता है। चाहे महर्षि पतञ्जलि के 'चत्वारि श्रृङ्गा' के आख्यान 'नामाख्यातोपनिसर्गनिपाता तथा 'सप्तसिन्धव.' के व्याख्यान 'सप्त विभक्तय' को हम न भी माने, फिर भी ऋग्वेद १०/१२/५ या तैत्तिरीय संहिता V.L. ४/७/३ पहले से ही इस बात को प्रदर्शित करते है कि मनुष्य स्वतत्र रूप से वार्तालाप करते हुए सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि को पर्याप्त महत्त्व देते थे। यहॉ यह उद्देश्य नही है कि उन सभी मत्रो को उद्घृत किया जाये, जिनमे कुछ भी व्याकरण की दृष्टि से उपयोगी अश है अपितु इतना कहना समीचीन होगा कि उपलब्ध प्रमाण इस बात के साक्षी है कि मत्रद्रष्टा ऋषियो ने व्याकरण के क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति कर ली थी। चूँकि व्याकरण–शास्त्र का ज्ञान या शिक्षण उनका मुख्य ध्येय नही था,उन्होने

अपने श्रम को इस ओर नही लगाया। 'व्याकरण' शब्द की निष्पत्ति जिस धातु से मानी जाती है उसके मौलिक अर्थ का प्रयोग यजुर्वेद मे परिलक्षित होता है।

'व्याकरण' शब्द का प्रयोग रामायण, महाभारत, गोपथ ब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थो मे मिलता है। वैदिक सहिताओ मे कितने ही ऐसे मत्र उपलब्ध होते है जिनमे शब्दो की व्युत्पत्ति का स्पष्ट सकेत या कथन मिलता है।

''सक्तुमिव तितउना पुनन्तोयत्र धीरा मनसा वाचमकत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रा ह्येषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।''[1]

मे स्पष्ट ही ऋषि–मनीषियो द्वारा अपने शिष्ट मन से चलनी से सत्तू की भॉति, अपशब्दो से पृथक–कृत शुद्ध शब्दो वाली वाणी मे उनकी कल्याणकारिणी विभूति के निहित होने का कथन है। इसी प्रकार -

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[2]

मे वाणी के सही तत्त्व को जानने वाले की प्रशसा यह बात कहकर की गयी है कि वाक् तत्त्व के द्रष्टा के प्रति वाणी अपने तनु अर्थात् स्वरूप को उसी प्रकार प्रकट कर देती है जैसे सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित स्त्री अपने को अपने पति के प्रति।

इससे स्पष्ट है कि व्याकरण का सूत्रपात वैदिक युग मे हो चुका था। मैत्रायणी सहिता मे विभक्ति का उल्लेख है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण मे वाणी के सात भागो (विभक्तियो) का उल्लेख है।[4] गोपथ ब्राह्मण मे तो विभक्ति के अतिरिक्त कई सज्ञाओ जैसे धातु, प्रातिपादिक लिड्ग, वचन इत्यादि का

---

१ ऋग्वेद १०/७१/२

२ ऋग १०/७१/४

३ मैत्रायणी सहिता १–७–३ तस्माद् षड् विभक्तय।

४ ऐतरेय ब्राह्मण ७–७ सप्तधा वै वागवदत्। सप्त विभक्तय इति भट्टभास्कर।

भी स्पष्ट उल्लेख है।[1] इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि सहिताओ मे बीज रूप मे उपस्थित व्याकरण का ब्राह्मण युग मे सविशेष विकास हुआ। अवान्तर काल मे वेदो की प्रत्येक शाखा के लिए प्रातिशाख्यो की रचना हुई जो वर्णो के स्थान तथा प्रयत्न, स्वर, सहिता (सन्धि) आदि का सूक्ष्म विवेचन करने के कारण व्याकरण के ही पूर्व रूप माने जाने चाहिए। इनमे व्याकरण के जो पारिभाषिक शब्द मिलते है, उनमे से अधिकाशत उत्तरकालीन वैयाकरणो द्वारा अपने ग्रन्थो मे ज्यो का त्यो ले लिये गये है। स्वय महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे शुक्लयजु प्रातिशाख्य की उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और आम्रेडित आदि सज्ञाओ को ज्यो का त्यो ले लिया है। सबसे प्राचीन प्रातिशाख्य शौनक—कृत ऋक् प्रातिशाख्य है जो पाणिनि से पूर्ववर्ती है। अनुमानत· ईसा पूर्व अष्टम् शताब्दी के आचार्य यास्क का निरूक्त प्रायेण निर्वचनमूलक है। निर्वचन भी तो व्याकरण के विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है। यह और बात है कि निरूक्त एव व्याकरण के निर्वचन कार्यो मे प्रकार और मात्रा दोनो का भेद है।

सस्कृत वाड्मय मे इतस्तत विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री, यास्क के निरूक्त, वेदो के विभिन्न प्रातिशाख्यो तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी मे उद्घृत अनेक वैयाकरणो के विविध मतो के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणो की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। वैयाकरणो की इस परम्परा मे केवल पाणिनि ही ऐसे आचार्य हुए जिन्होने वैदिक तथा लौकिक उभयविध शब्दो को आधार बनाकर अपने प्रशस्त व्याकरण ग्रन्थ' अष्टाध्यायी का सफलतापूर्वक प्रणयन किया। उनसे पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वैयाकरण प्राय वैदिक शब्दो को अथवा लौकिक शब्दो को ही अपने—अपने व्याकरण का विषय बना सके थे। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से व्याकरण के आचार्यो का तीन श्रेणियो मे विभाजन किया जा सकता है—

---

१ ओड्कार पृच्छाम को धातु, कि प्रातिपदिक, कि नामाख्यात, कि लिड्ग, कि वचन का विभक्ति, क स्वर उपसर्गोनिपात, कि वै व्याकरण, को विकार, को विकारी, कतिमात्र कतिवर्ण, कत्यक्षर:, कति पद:, क सयोग,कि स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्।

—गोपथ पूर्व १—२४)

क पूर्व–पाणिनि वैयाकरण

ख आचार्य पाणिनि

ग उत्तर–पाणिनि वैयाकरण

पूर्व-पाणिनि वैयाकरण

प्रातिशाख्यों में उद्घृत प्राचीन वैयाकरण

पाणिनि से प्राचीन वैयाकरण विद्वानो के सम्बन्ध मे अध्ययन करते हुए हमारी दृष्टि सर्वप्रथम प्रातिशाख्य ग्रन्थो की ओर जाती है क्योकि वेदो की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थो को व्याकरण का प्रारम्भिक रूप समझा जाता है। प्रातिशाख्य पाणिनि के पूर्ववर्ती है अथवा पश्चात्वर्ती ? इस विषय मे बहुत काल से विद्वानो मे वैचारिक मतभेद है परन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा प्रातिशाख्यो मे प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दो की गम्भीर तुलना करके विद्वानो ने ऐसे सकेत प्रस्तुत किये है जो हमे ए सी बर्नेल के निष्कर्ष को मानने के लिए बाध्य कर देते है कि सम्पूर्ण विद्यमान प्रातिशाख्य अपने वर्तमान रूपो मे पाणिनि से अर्वाचीन है। परन्तु ये सभी प्रातिशाख्य किसी न किसी प्रकार एक ऐसे व्याकरण सम्प्रदाय से सम्बद्ध है जो पाणिनीय सम्प्रदाय से पूर्व प्रतिष्ठित था। इन प्रातिशाख्यो मे अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन, अन्यतरेय, अगस्त्य एव इन्द्र आदि ५६ आचार्यो का उल्लेख मिलता है जिनमे बहुतो का सम्बन्ध व्याकरण से स्थापित किया गया है।

यास्क

यास्क वास्तविक रूप से शुद्ध वैयाकरण न होकर भाषा वैज्ञानिक है। यास्क का पाणिनीय व्याकरण तथा प्रातिशाख्यो के बीच की कडी होने के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक स्थान पर यास्क ने स्वय अपने समय से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य विषयक अध्ययन के विकास पर प्रकाश डाला है,

जिससे उनके समय तक हुई व्याकरण एव भाषा विज्ञान विषयक प्रगति ज्ञात होती है। उसी क्षेत्र मे उन्होने अपना भी योगदान किया है। इन पक्तियो मे वेद, ब्राह्मण अन्य उसी प्रकार के ग्रन्थो एव यास्क से पूर्ववर्ती काल के क्रमिक विकास का भी साड्केतिक परिचय मिलता है।

दुर्भाग्य से यास्क के समय के बारे मे निश्चित रूप से कुछ नही जान पडता। यास्क के समय के लिए अधिकाश रूप मे पाणिनि की तिथि पर निर्भर करना पडता है। महर्षि पाणिनि और महर्षि यास्क के बीच मे कम से कम एक शताब्दी का अन्तर मानना होगा। यास्क ने पर्याप्त शब्दो का प्रयोग एव व्युत्पत्ति एक नवीन प्रकार से किया है।[1] पाणिनि ने जिस भिन्न प्रक्रिया एव व्युत्पत्ति का प्रयोग किया– उसमे कुछ समय की अपेक्षा अवश्य ही है। यास्क ने निरूक्त मे अपने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यो, यथा–शाकटायन, शाकल्य, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि का उल्लेख किया है। पाणिनि ने तो अपने पूर्ववर्ती दस वैयाकरणो का उल्लेख अष्टाध्यायी मे ही किया है। पाणिनि से प्राचीन पन्द्रह आचार्यो का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के पूर्व संस्कृत–छन्दस् तथा भाषा का व्याकरण बहुत विकसित हो चुका था और उसके भिन्न–भिन्न कई सम्प्रदाय थे। आठ सम्प्रदायो का उल्लेख तो कई स्थलो पर मिलता है, यद्यपि इस विषय मे ऐकमत्य नही प्राप्त होता। एक स्थल मे ब्राह्म, ऐशान, ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल एव पाणिनीय ये आठ नाम मिलते है। अन्यत्र ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, आपिशल, शाकटायन, पाणिनीय, अमर एवं जैनेद्र ये आठ सम्प्रदाय उल्लिखित है। वाल्मीकि–रामायण मे उल्लिखित नौ सम्प्रदाय इस प्रकार है ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल, शाकल्य और पाणिनीयक। इस विवरण से यह बात स्पष्ट है कि सभी ने ऐन्द्र व्याकरण को प्रमुखता दी है। इन्द्र के पूर्व दो आचार्य और है– ब्रह्मा तथा बृहस्पति। ऋक्तत्र मे शाकटायन का कथन है

---

१ यास्क 'कारित' का प्रयोग करते हैं जिसके लिए पाणिनि ने णिजन्त का प्रयोग किया है। यास्क के व्यञ्जन को पाणिनि ने विशेषण करके प्रयुक्त किया है।

कि ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरण का ज्ञान दिया, वृहस्पति ने इन्द्र को इन्द्र ने भरद्वाज को भरद्वाज ने ऋषियो को और ऋषियो ने ब्राह्मणो को।[१] ब्रह्मा का प्रवचन 'शासन' कहलाया, परवर्तियो का 'अनुशासन'। बृहस्पति देवो के गुरू एव पुरोहित कहे गये है।[२] बृहस्पति ने इन्द्र को व्याकरण का ज्ञान दिया, इस बात का उल्लेख तो पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य मे किया है।[३]

इन्द्र प्रथम वैयाकरण है जिन्होने पूर्वागत अव्याकृत वाक् के प्रकृति–प्रत्यय का विभाजन करके उसे व्याकृत किया (जिससे उसको सीखना समझना सरल हो गया)। उनसे पूर्व केवल प्रति पद पारायण (पाठ) का प्रचलन था। इन्द्र ने भरद्वाज को शब्दशास्त्र की शिक्षा दी। परवर्ती काल मे यही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रचलित हुआ। वररूचि तथा व्याडि इसी सम्प्रदाय के आचार्य थे। चान्द्र व्याकरण पञ्चम शताब्दी ईश्वी के उत्तरार्द्ध मे होने वाले बौद्ध धर्मानुयायी चन्द्रगोमी द्वारा लिखा गया। इसमे तीन हजार से ऊपर सूत्र है। इनके भी पूर्व शर्ववर्मा ने ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर कातन्त्र व्याकरण की रचना की थी। जैनेन्द्र व्याकरण देवनन्दी द्वारा षष्ठ शताब्दी ईश्वी मे, शाकटायन कृत शब्दानुशासन अष्टम, हेमचन्द्राचार्य कृत शब्दानुशासन– हैमव्याकरण द्वादश, सारस्वत व्याकरण तथा बोपदेव कृत मुग्ध बोध त्रयोदश शताब्दी ईश्वी मे लिखे गये। आखिरी दोनो प्रचलित भी हुए। मुग्धवोध का विशेष प्रचार बगाल मे हुआ। वहॉ अभी भी इसका प्रचार है। सारस्वत व्याकरण पर सप्तदश शताब्दी मे रामाश्रम द्वारा लिखी गयी सारस्वत चन्द्रिका का बीसवी शती के प्रथम पाद तक काशी के क्षेत्र मे विशेष प्रचार था।

---

१ **ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य , ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।** ऋक्तन्त्र १–४

२ **बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः।** –ऐतरेय ब्राह्मण ८–२६

३ **"बृहस्पति' इन्द्राय दिव्यं वर्ष सहस्र प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच न च पारं जगाम।"** महाभाष्य १/१/१

सस्कृत व्याकरण के इतिहास मे पाणिनि, का नाम अमर है। इन्होने लगभग चार हजार सूत्रो मे सस्कृत छन्दस् एव भाषा दोनो का ऐसा सक्षिप्त किन्तु साङ्गोपाङ्ग व्याकरण लिखा जिसकी समकक्षता तो क्या, समीपता मे भी रखने योग्य दूसरा कोई व्याकरण नही है। पाणिनि ने सश्लिष्ट विधि से व्याकरण की इतस्तत विकीर्ण सामग्री को अपनी अष्टाध्यायी मे सफलता पूर्वक एकत्र कर अति संक्षेप मे रख दिया। इस सक्षेप मे उन्हे प्रत्याहारो, अनुबन्धो, गणो, सञ्ज्ञाओ एव अनुवृत्तियो के द्वारा आशातीत सफलता मिली। इतना अवश्य हुआ कि इस सक्षेपातिशय के कारण उनकी अष्टाध्यायी दुरूह अवश्य हो गई, किन्तु लेखन सामग्री की प्रचुरता के अभाव मे व्याकरण का अधिकाश कण्ठस्थ रखने के लिए यह उस युग की मांग भी रही होगी।

पाणिनि का जीवन चरित एवं काल निर्धारण

भाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के विषय में लिखा है– "पाणिनि अत्यन्त प्रामाणिक आचार्य थे। उन्होने पवित्र स्थान मे प्रात कालीन सूर्य के सामने बैठ कर और हाथ मे कुशा की पवित्री पहनकर बुद्धि के महान् प्रयत्न से अपने सूत्रो की रचना की। वे सूत्र इतनी सावधानी से बनाये गये थे कि उनमे एक अक्षर के भी व्यर्थ होने की गुञ्जाइश नही है, सारे सूत्र की तो बात ही क्या।" पतञ्जलि ने पाणिनि को अत्यन्त मेधावी आचार्य (अनल्पमति आचार्य) कहा है। काशिका में लिखा है– "महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।" ऐसे महान् आचार्य के जीवन चरित्र के विषय मे हमारी जानकारी अति सीमित है। अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि का जन्म स्थान शलातुर था। शलातुर में जन्म होने के कारण पाणिनि को सस्कृत के कोषो मे शालातुरीय कहा गया है। शलातुर गन्धार देश मे एक छोटा सा गाव है, जिसे अब लहुर कहते हैं। जहॉ काबुल नदी पश्चिम की तरफ से सिन्ध मे मिली है, वहीं संगम पर आजकल ओहिन्द (प्राचीन उद्भाण्डपुर) है। ओहिन्द से ठीक चार मील उत्तर पश्चिम की तरफ लहुर गाव है। होती–

मरदान से ओहिन्द तक जाने वाली बसे लहुर होकर जाती है। चीनी यात्री ह्वेनसाग सातवी शती के आरम्भ मे मध्य एशिया के स्थल मार्ग से होता हुआ भारत मे आया था। तब वह मार्ग मे शलातुर मे ठहरा था। किसी समय शलातुर अच्छा कस्बा रहा होगा। पाणिनि ने भी अपने एक सूत्र ४/३/६४ मे शलातुर का उल्लेख किया है। जिसके पूर्वजो का निवास शलातुर से हो, वह शालातुरीय कहलाता था। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था, जिसके कारण भाष्य मे उन्हे दाक्षीपुत्र कहा गया है।

सोमदेव ने कथासरित्सागर मे (११वी शती) पाणिनि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे एक किवदन्ती का उल्लेख किया है। इसमे कुछ सत्य एव कुछ अनर्गल बाते मिल गई है। इस कहानी के अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के शिष्य थे, वे पढने मे मन्दबुद्धि थे। कात्यायन पाणिनि के सहपाठी थे और बडे ही कुशाग्रबुद्धि थे। पाणिनि से उनकी स्पर्द्धा रहा करती थी। वे प्राय पाणिनि से आगे रहते थे। इस स्थिति को न सहकर पाणिनि ने अपने मन की दृढशक्ति से हिमालय पर जाकर तप करने का निश्चय किया, वहॉ उनकी तपस्या से भगवान् शिव प्रसन्न हुए और कहा जाता है कि उन्होने पाणिनि के सामने नृत्य करते हुए चौदह बार अपना डमरू बजाया[1] उसकी जो ध्वनि निकली उसी के अनुसार पाणिनि ने निम्नलिखित चौदह प्रत्याहार–सूत्र बनाये।

१ अइउण्, २. ऋलृक्, ३ एओङ्, ४ ऐओच्, ५ हयवरट्, ६ लण्, ७ ञमङणनम्, ८ झभञ्, ६ घढघष्, १० जबगडदश्, ११ खफछठथचटतव्, १२ कपय्, १३ शषसर्, १४ हल्।

ऊपर के सूत्रो मे संस्कृत की प्राचीन वर्णमाला का एक नया क्रम पाया जाता है। यह क्रम पाणिनि ने स्वय निश्चित किया था, या उनके पहले से प्रचलित माहेश्वर व्याकरण मे यह क्रम था, यह बात निश्चित नही है। सम्भावना यही है कि जिस रूप मे वर्णमाला के ये १४ प्रत्याहार सूत्र

१ **नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्का नवपञ्चवारम्।**
उद्धर्तुकाम सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।। – नन्दिकेश्वर

आज पाये जाते है, वह स्वय पाणिनि का ही निर्धारित किया हुआ है। ये सूत्र पाणिनि के व्याकरण की आधार शिला है। पाणिनि ने जो व्याकरण के विस्तृत विषय और लम्बे नियमो को इतने सक्षिप्त स्थान मे भर दिया है, उसका अधिकाश श्रेय प्रत्याहार सूत्रो की युक्ति को है। उदाहरणार्थ—अच् कहने से स्वरो का, हल् कहने से व्यञ्जनो का एव अल् कहने से पूरी वर्णमाला के अक्षरो का बोध हो जाता है।

ह्वेनसांग का वर्णन

पाणिनि के जीवन के सम्बन्ध मे चीनी यात्री ह्वेनसाग ने जो लिखा है, वह अधिक विस्तृत और विश्वसनीय है। वह स्वय शलातुर गया था और वहॉ के विद्वानो से मिला था। उसने वहॉ पाणिनि की एक प्रतिमा देखने की बात भी लिखी है। स्थानीय अनुश्रुति के आधार पर यह बताते हुए कि शब्द विद्या के निर्माता आचार्य पाणिनि का जन्म शलातुर मे हुआ था, वह इस प्रकार लिखता है—

"अति प्राचीन काल मे साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से ससार का ह्रास होने लगा और एक समय सब शून्य हो गया। तब ज्ञान की रक्षा के लिए देवो ने पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा का (व्याकरण का) विस्तार होने लगा और पहली सीमाओ से भी बहत बढ गया। ब्रह्मदेव और देवेन्द्र शक्र ने आवश्यकतानुसार शब्दो के रूप स्थिर किये (नियम बनाये) ऋषियो ने स्वमतानुसार अलग–अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य उनका अध्ययन करते रहे पर जो मन्दबुद्धि थे वे उन व्याकरणो से अपना काम चलाने मे समर्थ न हो सके, फिर उस युग मे मनुष्यो की आयु भी घटकर केवल एक सौ वर्ष रह गई थी। ऐसे समय में पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों मे उनकी जानकारी बढी चढी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और

अशुद्ध प्रयोगो एव नियमो मे सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करके अशुद्ध प्रयोगो को ठीक कर दे। उन्होने शुद्ध शब्दो की सामग्री के सग्रह के लिए यात्राए की। उस अवसर पर ईश्वरदेव से उनकी भेट हुई। उन्होने अपनी योजना ईश्वरदेव के सामने रखी। सुनकर ईश्वरदेव ने कहा, "यह अद्‌भुत है मै तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकान्त स्थान मे चले गये। वहाँ उन्होने निरन्तर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगायी। इस प्रकार अनेक शब्दो का सग्रह करके उन्होने व्याकरण का एक ग्रन्थ बनाया, जो एक सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरम्भ से लेकर उस समय तक अक्षरो और शब्दो के विषय मे जितना ज्ञान था, उसमे से कुछ भी न छोडते हुए सम्पूर्ण सामग्री को उन्होने उस ग्रन्थ मे रख लिया। समाप्त करने के बाद उन्होने उस ग्रन्थ को राजा के पास भेजा, जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्यभर में उसका प्रचार किया जाय और उसकी शिक्षा दी जाय। यह भी कहा कि जो उसे आदि से अन्त तक कण्ठस्थ करेगा, उसे एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रन्थ को आचार्यो ने स्वीकार किया और अनवरत रूप मे सबके हित के लिए इसे वे पीढी दर पीढी सुरक्षित रखते रहे है। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान ब्राह्मण व्याकरण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता है और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है।"

ह्वेनसांग ने ऊपर जो लिखा है उससे पाणिनि के जीवन के विषय में और उनके महान् व्यक्तित्व के विषय मे ठोस तथ्य ज्ञात होते है। उसने मुख्यत इन बातो का संकेत किया है कि किस प्रकार आरम्भ मे वैदिक साहित्य का अनन्त विस्तार था, किस प्रकार देवताओ के प्रयत्न से प्राचीन व्याकरण का जन्म हुआ, किस प्रकार भिन्न–भिन्न व्याकरणो के कारण शब्दो के ठीक रूप स्थिर करने मे गडबडी फैल गई, किस प्रकार उस सकट–काल में पाणिनि ने एक नये व्याकरण को जन्म दिया, और किस प्रकार पाणिनि ने व्याकरण रचना मे अपनी जन्मसिद्ध मेधा शक्ति और मानसिक एव शारीरिक तप का प्रयोग किया।

पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्था परक शब्दो का जिस तरह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे अध्ययन किया गया है उसके आधार पर पाणिनि के समय और आपेक्षिक तिथि क्रम पर भी प्रकाश पडता है। पाणिनि सस्कृत भाषा के ऐसे गाढे सक्रान्तिकाल मे हुए जब एक ओर वैदिक भाषा और साहित्य का चरम विकास हो चुका था एव दूसरी ओर सस्कृत भाषा जिसे काव्य भाषा भी कह सकते है, अपनी उस महती शक्ति को प्राप्त कर रही थी जो वाल्मीकि और व्यास के श्लोक छन्दो मे निहित है। पाणिनि की भाषा लोक व्यवहार की साधु भाषा थी। वह जीवन के व्यापक क्षेत्र मे भाव प्रकाशन की सक्षम माध्यम थी। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र के कितने ही शब्द और सस्थाओ का उल्लेख अष्टाध्यायी मे आता है। महाभारत, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, पालि साहित्य, अर्धमागधी, आगम साहित्य, इन सबमे पाणिनीय सस्थाओ के उल्लेख मिलते है। इनकी सहायता से उन शब्दो के अर्थ और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने मे सहायता मिली तथा पाणिनि के कालक्रम पर भी प्रकाश प्राप्त होता है।

पूर्वमत

पाणिनि के काल का निर्णय सस्कृत साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कितने ही विद्वानो ने इस प्रश्न पर विचार किया है। गोल्डस्टूकर के अनुसार पाणिनि सातवी शती ई पू मे हुए। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का भी यही मत था। उनका आधार था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। श्री पाठक ने पाणिनि को सातवी शती ई पू के अन्तिम चरण मे महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रखा था।[१] श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने पहले सातवी शती फिर पीछे छठी शती का मध्य भाग पाणिनि का काल माना।[२] पहला मत शारपेतिये के मत मे यह तिथि ५५० ई पू. होनी चाहिये। उनका अपना ही प्रतिसस्कृत मत यह था कि यह तिथि ५०० ई पू के लगभग थी। श्री रायचौधरी का विचार है कि

१ भण्डारकर सस्थानत की पत्रिका, ११/८३
२ १९१८ कर्माइकेल व्याख्यान पृ १४१, दूसरा मत प्राचीन भारत मुद्रा शास्त्र १९२१ पृष्ठ ४६

इरानियो द्वारा गन्धार विजय का युग जब समाप्त हो गया तब पाणिनि का समय होना चाहिये जो छठी शती के बाद और चतुर्थ शती से पूर्व का था। उनका समय पॉचवी शती मे मानने से सब प्रमाणो की सगति बैठ जाती है।[१] ग्रियर्सन का मत था कि अशोक के धम्म लेख और पाणिनि के बीच मे १००—१५० वर्षो का अन्तर होना चाहिये। इससे ४०० ई पू के लगभग पाणिनि का समय था। मैकडानल का प्रतिसस्कृत मत यह था कि पाणिनि का समय ५०० ई पू के बाद होना सम्भव नही। बॉटलिक ने इसे ३५० ई पू के लगभग माना है। वेबर ने पाणिनि का समय सिकन्दर के भारत मे आने के बाद रखा। लीबिश ने निश्चित सम्मति न देते हुए इतना ही लिखा कि इस विषय पर निर्णायक प्रमाण अभी तक हमे प्राप्त नही है किन्तु सम्भावना ऐसी है कि पाणिनि बुद्ध के बाद और ईश्वी सन् से पूर्व हुए थे और वे पहली मर्यादा के अधिक सन्निकट थे।

भारतीय अनुश्रुति

इस विषय मे किसी भी मत पर पहुँचने के लिए पाणिनीय सामग्री की साक्षी ही हमारा एक मात्र आधार होना चाहिए। इन मतो से यह तो विदित हो जाता है कि मोटे तौर पर सातवीं शती से चौथी शती ई पू तक के युग मे पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमे भी पाचवी शती ई पू के पक्ष मे बहुमत है। इस सम्बन्ध मे गोल्डस्टूकर जो व्याकरणशास्त्र और महाभाष्य के मार्मिक जानकार थे प्रश्न की कुञ्जी के रूप मे यह सम्मति देते है— पाणिनि के काल के विषय मे कल्पना करने की अपेक्षा इस बात की छान—बीन से अधिक सफलता मिलेगी कि पाणिनि के ऐतिहासिक उल्लेखो का औरो के साथ आपेक्षिक सम्बन्ध क्या है। इस युक्ति को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करेगे कि इस विषय मे जो सामग्री उपलब्ध है वह किस तिथि की ओर सम्मिलित सकेत

---

१ वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास १९३६ पृ ३०

करती है। जहॉ सब प्रमाणो की सगति और एक सूत्रता सम्भव हो वही मत ग्राह्य होना चाहिए इस सम्बन्ध मे डा वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है जो भारतीय अनुश्रुति है वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पडती है अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवशी राजा के समकालीन थे। यह समय पाचवी शती ई पू के मध्य भाग मे था। अब हम प्रमाण सामग्री पर क्रमश विचार करेगे।

साहित्यिक उल्लेखों की साक्षी

गोल्डस्टूकर द्वारा पाणिनि के सप्तम शती ई पू मे रखे जाने का मुख्य आधार यह था कि पाणिनि केवल ऋग्वेद सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे आरण्यक उपनिषत् प्रातिशाख्य वाजसनेयी सहिता शतपथ ब्राह्मण अथर्ववेद एव दर्शनग्रन्थो का उन्हे परिचय न था। केवल यास्क पाणिनि से पूर्व मे हो चुके थे। पाणिनि को वैदिक साहित्य के कितने अश का परिचय था इस विषय मे विस्तृत अध्ययन के आधार पर थीमे का निष्कर्ष है कि ऋग्वेद मैत्रायणी सहिता काठक सहिता तैत्तिरीय सहिता अथर्ववेद सम्भवत सामवेद ऋग्वेद के पद पाठ और पैप्पलाद शाखा का भी पाणिनि को परिचय था अर्थात् ये सब साहित्य उनसे पूर्वयुग मे निर्मित हो चुका था।[1] इस सम्बन्ध मे एक मार्मिक उदाहरण दिया जा सकता है। गोल्डस्टूकर ने यह माना था कि पाणिनि को उपनिषत् साहित्य का परिचय नहीं था अतएव उनका समय उपनिषदो की रचना से पूर्व होना चाहिए। यह कथन सारहीन है क्योकि सूत्र १/४/७६ मे पाणिनि ने उपनिषत्कृत्य इस वाक्याश मे उपनिषत शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थ मे किया है जिसके विकास के लिए उपनिषद् युग के बाद भी कई शती का समय अपेक्षित था। कीथ ने इसी सूत्र के आधार पर पाणिनि को उपनिषदो के परिचय की बात प्रमाणित माना था।[2] तथ्य तो यह है कि पाणिनि कालीन साहित्य की

---

१ थीमे पाणिनि और वेद १९३५ पृ ६३

२ तैत्तिरीय स कीथ अग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृष्ठ १६७

परिधि वैदिक ग्रन्थो से कही आगे बढ चुकी थी। जैसा पूर्व मे दिखाया गया है वैदिक चरणो के अन्तर्गत कल्पसूत्र एव धर्मसूत्रो का भी विकास हो चुका था और चरणो से बाहर वेदाग साहित्य की पर्याप्त उन्नति हो रही थी। व्याकरण ग्रन्थो मे नामिक और आख्यातिक नामक विशिष्ट ग्रन्थ एव याज्ञिक साहित्य तथा उनके व्याख्यान अनुव्याख्यान आदि का अत्यधिक विकास पाणिनि के समय तक हो गया था जो कि वैदिक साहित्य के उत्तरकालीन विकास का सबसे अन्तिम चरण कहा जा सकता है। महाभारत के मूल और उपवृहित स्वरूप दोनो का परिचय उन्हे था। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने नटसूत्र एव शिशुक्रन्दीय यमसभीय इन्द्रजनीय जैसे नितान्त लौकिक काव्य ग्रन्थो का भी अपने सूत्रो मे उल्लेख किया है। जिसे हम शिष्ट प्रयुक्त सस्कृत भाषा का नूतन युग समझते है उसका एक खिला हुआ रूप पाणिनि के युग मे विद्यमान था जिसमे एक ओर अनुष्टुप् श्लोक काव्यरचना का स्पृहणीय माध्यम बन चुका था दूसरी ओर सूत्रशैली का भी पूर्णतम विकास हो चुका था। उपलब्ध धर्मसूत्र एव गृह्यसूत्रो से कहीं अधिक प्रतिष्णात सूत्र रचना पाणिनि की शैली थी। पाणिनि द्वारा साहित्यिक उल्लेखो की प्रमाणसामग्री के सामने गोल्डस्टूकर का मत नही टिक सकता।

पाणिनि और दक्षिण भारत

भण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानो ने भी यह मत व्यक्त किया था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। डा वायुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि पाणिनि के काल विषयक विचार मे इस तर्क पर विशेष आग्रह नहीं किया जा सकता। पहले तो यास्क ने ही जिन्हे गोल्डस्टूकर ने भी पाणिनि से पूर्वकालीन माना था दक्षिण भारत की सामाजिक प्रथाओ का सूक्ष्म परिचय दिया है। जैसा कीथ ने लिखा है— यास्क ने वैदिक शब्द विजामातृ का दक्षिण भारत मे प्रचलित ऐसे जामाता के अर्थ मे प्रयोग किया

है जिसने अपने श्वसुर को पत्नी का निष्क्रय मूल्य चुकाया है।[1] दूसरे कात्यायन के युग मे सस्कृत भाषा दक्षिण भारत मे ओत–प्रोत हो चुकी थी। कात्यायन जैसे व्याकरण शास्त्र के पारगत विद्वान को पतञ्जलि ने दाक्षिणात्य कहा है (प्रिय तद्धिता दाक्षिणात्या) पाणिनि और कात्यायन मे लगभग एक शती का अन्तर था। एकलिङ्ग ने लिखा है मै श्री बूहलर के इस मत से सहमत हूँकि कात्यायन का अधिकतम सम्भव समय चौथी शती और पतञ्जलि का दूसरी शती ई पू मे था।[2] तीसरे पाणिनि ने समुद्रतटवर्ती एव मध्यसमुद्रवर्ती द्वीपो का उल्लेख करने के अतिरिक्त अयनाशो के मध्य के भूभाग को अन्तरयन देश लिखा है (८/४/२५) यह दक्षिण की ओर ही सकेत है जो कि कर्करेखा के दक्षिण का प्रदेश था। अवन्ति जनपद के दक्षिण अश्मक जनपद का उल्लेख तो साक्षात् सूत्र मे किया गया है जिसकी पहचान सर्वसम्मति से गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान या पोदन्यपुर राजधानी वाले भू–भाग से की जाती है। पूर्व के जनपदो मे कलिङग का भी उन्होने सूत्र मे उल्लेख किया है जहॉ से दक्षिण भारत के यातायात का मार्ग खुलता था। अतएव दक्षिण के विषय मे पाणिनि का भौगोलिक मौन इस प्रकार का नहीं है कि उससे कोई परिणाम निकाला जा सके।

पाणिनि और बुद्ध

मखलि गोसाल बुद्ध का समकालीन था। अतएव पाणिनि से पूर्व बुद्ध का जन्म हो चुका था इस तथ्य को मान लेने से पाणिनि के कई शब्द अपनी सच्ची पृष्ठभूमि मे समझे जा सकते है। निर्वाण कुमारीश्रमणा सञ्चीवरयते (३/१/२०) और निकाय नामक धार्मिक सघ जिसमे औत्तरार्द्धय का अभाव था इस प्रकार के है। ऐसा सघ विशेषरूप से बौद्ध धर्म के साथ

---

१ विजामातेति शाश्वद् दाक्षिणाजा क्रीतापतिमाचक्षते निरूक्त ६/६ कीथ सस्कृत साहित्य का इतिहास पृ १५

२ एकलिडग शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद भूमिका)

सम्बन्धित था। पहले धार्मिक आचार्य अपना सघ या गण बनाते थे जिसके वे स्वय सत्था होते थे किन्तु बौद्ध सघ बुद्ध के बाद जिस रूप मे विकसित हुआ वह उस समय के लोगो को कुछ विचित्र सा जान पडा उसमे सत्था का परमाधिकार नही के बराबर था। सघ के सभी सदस्य विनय के नियमो को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। सत्था के एकमात्र अनुशासन के स्थान मे स्थविरो के प्रति सम्मान का भाव विकसित हुआ। समता के आधार पर समस्त भिक्षु समुदाय का ऐसा सघ बना जिसमे औत्तरार्द्धय अर्थात् किसी के ऊँचे और किसी के नीचे होने का भाव विल्कुल न रह गया था। राजनैतिक सघ या गण मे यह बात न थी। वहॉ कुछ लोग मूर्धाभिषिक्त राजा होते थे और कुछ सामान्य जन। इन सस्थाओ से सकेत प्राप्त होता है कि पाणिनि का काल बुद्ध के अनन्तर होना चाहिए।

श्रविष्ठा नक्षत्र

सूत्र ४/३/३४ मे दस नक्षत्रो की सूची दी हुई है। पाणिनि ने उसमे श्रविष्ठा नक्षत्र को सबसे पूर्व मे रखा है यद्यपि शेष नामो मे क्रम का अभाव है फिर भी श्रविष्ठा से ही सूची का आरम्भ सकारण ज्ञात होता है। बात यह है कि वेदाग ज्योतिष मे नक्षत्रो की गणना श्रविष्ठा से होती थी। उससे पूर्व नक्षत्र गणना कृतिका से की जाती थी उसके बाद महाभारत मे यह गणना श्रवण से है। गर्ग के मतानुसार कर्मकाण्ड मे कृतिका से और ज्योतिष मे श्रविष्ठा से नक्षत्र गणना होती थी। श्रविष्ठा का ही अन्य नाम धनिष्ठा था। वेदाग ज्योतिष के समय घनिष्ठा प्रथम नक्षत्र माना जाता था। धनिष्ठा को छोडकर श्रवण नक्षत्र की गणना कब से आरम्भ हुई यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। महाभारत मे लिखा है– **श्रवणादीनि ऋक्षाणि।'** फ्लीट ने इस वाक्याश पर सूक्ष्म विचार करते हुए लिखा कि अवश्य ही जिस समय यह लिखा गया वेदाग ज्योतिष की श्रविष्ठादि गणना के स्थान पर श्रवणादि सूची मान्य हो चुकी थी। कीथ ने फ्लीट के मत को स्वीकार करते हुए

लिखा कि हापकिन्स ने भी १६०३ मे अमेरिका की प्राच्य परिषद् पत्रिका के अक मे यही मत व्यक्त किया था। महाभारत मे भी एक जगह अपने युग से पूर्व की धनिष्ठादि गणना एव उससे भी पूर्व की रोहिण्यादि गणना का उल्लेख बचा रह गया है।[1]

इस सम्बन्ध मे मुख्य प्रश्न यह है कि घनिष्ठ आदि गणना किस समय तक चालू रही और कब उसका स्थान श्रवणादि सूची ने लिया। यदि यह ज्ञात हो जाय तो वही पाणिनि के समय की अन्तिम अवधि माननी होगी। महाभारत मे उल्लेख है कि घनिष्ठा के स्थान मे श्रवण की गणना का श्रेय विश्वामित्र को था। कीथ ने लिखा है कि विश्वामित्र कोई ज्योतिष के सस्कर्ता आचार्य थे जिन्होने विगत घनिष्ठा के स्थान मे जहॉ से क्रान्तिवृत्त आगे बढ चुका था श्रवण को वास्तविक स्थिति के अनुसार प्रथम नक्षत्र स्वीकृत किया।[2]

श्री योगेश चन्द्र रे ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है कि १३७२ ई पू मे श्रविष्ठा सूर्य और चन्द्र सक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे। ६० वर्ष मे एक नक्षत्र एक अश हट जाता है अतएव लगभग १६०० वर्ष २६ नक्षत्र के परिवर्तन मे लगते हैं। इसलिए पॉचवी शती ई पू मे श्रवण नक्षत्र उसी स्थान पर आ गया था जहॉ पहले श्रविष्ठा था। १३७२ ई पू से गणना करते हुए ४०५ ई पू तक श्रविष्ठादि गणना का काल था। ४०१ ई पू के लगभग श्रवणादीनि ऋक्षाणि यह उल्लेख किया गया होगा। अतएव श्रविष्ठादि सूची को मान्यता देने वाले लेख या विद्वानो का समय ४०० ई पू के बाद नही होना चाहिए। श्रविष्ठादि नक्षत्रसूची और मस्करी परिव्राजक इन दो प्रमाणो के आधार पर अष्टाध्यायी के काल की अवधि ५०० ई पू से ४०० ई पू के बीच मे सम्भाव्य हो जाती है।

---

१ **घनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिनिर्मित ।**
रोहिण्याद्योऽभवत् पूर्वमेव सख्या समाभवत्।। ऐतरेय आरण्यक २१६/१०

२ जेआरएएस १६१७ पृ ३६

नन्दराज की अनुश्रुति

बौद्ध एव ब्राह्मण साहित्य मे प्राचीन अनुश्रुति है कि पाणिनि किसी नन्दवशीय राजा के समकालीन थे। तिब्बती लेखक तारानाथ ने पाणिनि और नन्दराज की समसामायिकता को स्वीकार किया है।[१] सोमदेव ने कथासरित्सागर (१०६३–१०८१) मे और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी (११वी शती) मे लिखा है कि पाणिनि नन्दराजा की सभा मे पाटलिपुत्र गये थे। बौद्धग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प (लगभग ८वीं शती) से इस परम्परा का समर्थन होता है। उसके अनुसार पुष्पपुर मे नन्दराजा होगा और पाणिनि नामक ब्राह्मण उसका अन्तरग मित्र होगा। मगध की राजधानी मे अनेक तार्किक ब्राह्मण राजा की सभा मे होगे और राजा उन्हे दानमान से सम्मानित करेगा। ह्वेनसाग ने भी शलातुर मे जो पाणिनि की जीवनसामग्री सकलित की थी उसके अनुसार ग्रन्थ की रचना के बाद पाणिनि उसे लेकर देश के तत्कालीन सम्राट की सभा मे गये जिसने उनके ग्रन्थ को वहुसम्मानित किया एव उसके प्रचार तथा शिक्षण का आदेश दिया। (सी यू ची पृ ११५)। यद्यपि सम्राट तथा उसकी राजधानी का नामोल्लेख नही है तब भी उससे राजसभा मे जाने की अनुश्रुति का आशिक समर्थन होता है। राजशेखर (६०० ई) ने भी पाणिनि का सम्बन्ध पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा से माना है। पाटलिपुत्र मे इस प्रकार की विद्वत्सभा चौथी शती ई पू मे यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के समय मे हुई थी। उसने और भी अधिक प्राचीन सस्था के रूप मे उसका उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिनि विषयक अनुश्रुति का व्यापक समर्थन भारतीय चीनी यूनानी कई स्रोतो से होता है। यद्यपि पाणिनि गान्धार देश के थे पर उनके समय उदीच्य और प्राच्य के अति घनिष्ठ सम्बन्ध थे। उसकी परम्परा उपनिषद् युग से ही चली आ रही थी। विशेषत ज्ञान के क्षेत्र मे विद्वानो का सम्पर्क सामान्य बात थी जैसा

१ तारानाथ बौद्ध धर्म का इतिहास १६०८ पृ ७६। यह ग्रन्थ अति प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर रचा गया था।

पञ्चाल के उद्दालक आरुणि की मद्रदेश की यात्रा से जाना जाता है। पाणिनि ने भी इसी प्रकार के ज्ञान सम्पर्क मे भाग लिया था। उनके एक शती बाद चाणक्य भी वैसे ही तक्षशिला से पुष्पपुर आये थे।[1]

इस सम्बन्ध मे इस बात की छानबीन आवश्यक है कि पाणिनि के समकालीन उनके मित्र नन्दराज कौन थे। भारतीय इतिहास के इस युग की सामग्री पर्याप्त न है। एक तो ३२६ ई पू नन्दवश के अन्तिमराजा का अन्तिम वर्ष था जैसा कि सिकन्दर को पञ्जाब मे सूचना मिली थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवश का मूलोच्छेद किया। इस तिथि से पूर्व गणना करते हुए नन्दवश का राज्यकाल मानना होगा। पुराणो मे इसे १०० वर्ष और जैन अनुश्रुतियो मे १५० वर्ष माना है। तदनुसार नन्दो का राज्यकाल ४७५ ई पू से ३२५ ई पू के बीच मे रखा जाना चाहिए। पुराणो क अनुसार शिशुनागवशी उदयिन के बाद नन्दिवर्धन उसके बाद महानन्दिन तब महापद्म और उसके पुत्र राजा हुए। इनकी तिथिया लगभग इस प्रकार है।

१ नन्दिवर्धन – ४७५ – ४४५ ई पू लगभग

२ महानन्दिन् – ४४५–४०३ ई पू लगभग

३ महापद्म – ४०३ – ३७५ ई पू लगभग

४ महापद्म के पुत्र – ३७५ – ३२५ ई पू लगभग

तारानाथ के अनुसार नन्दवशी सम्राट महापद्मनन्द के पिता नन्द पाणिनि के मित्र थे। महानन्दिन् का नाम महानन्द या केवल नन्द था। ये ही पाणिनि के समकालीन और उनके सरक्षक मगधवश के सम्राट थे जिनका समय पाचवीं शती ई पू के मध्य भाग मे था। पाणिनि के सम्बन्ध की जो अन्य साक्षी है वह भी इस तिथिक्रम से सगत बैठ जाती है।

यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण साहित्य मे नन्दो के सबन्ध के कुछ उल्लेख बच गये है।[2] इससे विदित होता है कि किसी नन्दराजा ने नाप

---

१ वाद पर्येसन्तो पुष्फपुर गन्त्वा
सिहली महावश की अत्थपकासिनी टीका।

२ नन्दोपक्रमाणि मानानि –काशिका २/४/३१

तोल के साधनो को निश्चित या प्रतिमानित किया था। महानन्द को अपने साम्राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऐसा करना पडा हो यह सम्भव है। उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायाम सूत्र के लिए यह उदाहरण ठेठ पाणिनि के समय मे ही चालू हुआ होगा और वह विद्वानो की दृष्टि मे सटीक उदाहरण प्रतीत हुआ होगा। सूत्र ६/२/१३३ के उदाहरण मे नन्दपुत्र भी अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण उदाहरण होना चाहिए यह नन्द और उसके पुत्र कौन थे। उत्तरस्वरूप कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन प्रथम नन्दराज थे और उनके पुत्र महानन्दिन या महानन्द नन्दपुत्र थे। कुछ विद्वान मानते है कि कलिङग राज खारवेल के लेख मे ३०० वर्ष पूर्व किसी नन्दराजा द्वारा कलिङग मे एक नहर खुदवाने का उल्लेख है। खारवेल का समय १६५ ई पू माना जाय तो नन्दराज का समय ४६५ ई पू हुआ। इस समय पाटलिपुत्र मे मगध के सिहासन पर नन्दिवर्धन का राज्य था। उन्ही नन्दराज के पुत्र को व्याकरण के उदाहरण मे नन्दपुत्र कहा गया।

राजनैतिक सामग्री

इस विषय मे पाणिनि के राजनैतिक प्रमाण सामग्री पर भी विचार करना उचित है। उनके समय मे मगध एकराज जनपद था किन्तु मगध साम्राज्य की स्थापना न हुई थी। पाणिनि के अनुसार मगध कोशल अवन्ति कलिङ्ग सूरमस अश्मक कुरु प्रत्यग्रथ या पञ्चाल ये एकराज जनपद स्वाधीन रूप मे पनप रहे थे। अजातशत्रु ने मगध के सिहासन पर बैठते ही काशि और कोशल को अपने राज्य मे मिला लिया था किन्तु वह अल्पकालिक स्थिति थी। नन्दिवर्द्धन या महानन्दिन् ने राज्य का विशेष विस्तार नहीं किया। अतएव पाणिनि ने स्वाधीन एकराज जनपदो की जिस स्थिति का उल्लेख किया है वह महानन्द के समय मे ही सम्भव थी। उसका उत्तराधिकारी महापद्म हुआ। पुराणो के अनुसार उसने क्षत्रिय राजाओ के मुख्य–मुख्य जनपदो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। कोशल पञ्चाल काशि हैहय कलिङग अश्मक कुरु मिथिला शूरसेन

और अवन्ति इन जनपदो की स्वतत्रता का अपहरण करके और उन्हे अपने साम्राज्य से मिलाकर वह एकराट बन गया। पुराणो ने इस परिवर्तन का जो मध्यदेश के इतिहास मे सम्भवत पहली ही बार हुआ था विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसके कारण महापद्म को परशुराम के समान सर्वक्षत्रान्तक कहा गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी मे जिस राजनैतिक स्थिति का उल्लेख है वह महापद्म के धक्के से पूर्व ४५०—४०० ई पू के बीच की होनी चाहिए।

यवनानी

यवन और उनकी लिपि यवनानी का उल्लेख पाणिनि के समय की छानबीन के लिए महत्वपूर्ण है। ईरानी सम्राट् दारा (५८१—४८६ ई पू) के लेखो मे सर्वप्रथम यवन शब्द का उल्लेख हुआ जिसका तात्पर्य आयोनिया और वहॉ के निवासियो से था। दारा के साम्राज्य मे गन्धार भी सम्मिलित था जहॉ पाणिनि का निवास था। दारा के समय मे ही यौन या उसके सस्कृतरूप यवन शब्द का प्रयोग भारतीय प्रदेश मे हुआ होगा। यह कथन ठीक नही कि सिकन्दर के साथ आये हुए मेसिडोनिया के यूनानी पहली बार यवन नाम से प्रसिद्ध हुए। वस्तुत सिकन्दर से बहुत पहले ही यूनान देश के लोग गन्धार मे आकर बस गये थे। सिकन्दर ने स्वय काबुल नदी की द्रोणी मे नाइसा नामक स्थान मे यूनानियो का एक सन्निवेश देखा था जो वहॉ पहले से बसा हुआ था। पतञ्जलि ने नैश जनपद का नामोल्लेख किया है।[१] प्राचीन ईरानी यौन और यौना शब्द की सस्कृत के उच्चारण मे यवन और यवना रूप मे प्रसिद्ध हुए।[२] यौना से मिलता हुआ उच्चारण योना प्राकृत मे इस देश मे भी चालू रहा जैसा कि अशोक के अभिलेखो मे पाया जाता है। अतएव यह असन्दिग्ध है कि पाणिनि के यवन शब्द की परम्परा सिकन्दर कालीन यवनो से नही बल्कि आइयोनिया के

---

१ भाष्य ४/१/१७०

२ सुकुमार सेन ओल्ड पर्शियन इन्सक्रिप्सन्स पृ २२३

उन यवनो से ली गई थी जिनका परिचय ईरान के लोगो को छठी शती ई पू के अन्त मे हो गया था। दारा प्रथम के समय से ईरान और गन्धार का जो सम्बन्ध जुडा वह उसके उत्तराधिकारी ख्षयार्श के राज्यकाल मे भी बना रहा। गन्धार के भारतीयो की एक सैनिक टुकडी ने ईरानी सम्राट् की ओर से ४७६ ई पू के यूनान युद्ध मे भाग लिया था। यो कितने ही अवसर ऐसे थे जिनके कारण गन्धार मे यवन या यूनान देश का परिचय लोगो को मिला हो। जैसा कीथ ने लिखा है यदि यह ध्यान रखे कि ह्वेनसाग के कथनानुसार पाणिनि गन्धार देश के निवासी थे जैसा उनके व्याकरण से भी ज्ञात है तो यह मानना अप्रासगिक न होगा कि पाणिनि को यवनानी लिपि के नाम का परिचय यूनानियो की प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ था सिकन्दर के साथ यूनानियो से नही।[1] लिपि शब्द भी जिसका पाणिनि ने सूत्र मे उल्लेख किया है बौद्ध साहित्य मे नही मिलता। उसका मूल हखामनी लेखो का 'दिपि शब्द होना चाहिए।

पाणिनि और पर्शु

पाणिनि ने पर्शु नामक आयुधजीवी सघ का उल्लेख किया है (५/३/११७)। प्राचीन ईरानी पार्स और बावेरु भाषा का पर–सु (बहिस्तून शिला लेख मे) पाणिनीय पर्शु के अति निकट है। पर्शु सघ का प्रत्येक सदस्य पार्शव कहलाता था जो बावेरु पर–स–अ–अ के अति निकट है। पाचवी और छठी शती ई पू मे ईरान और गन्धार का घनिष्ठ सम्बन्ध था अतएव पाणिनि पर्शु सघ से परिचित हो तो आश्चर्य नही। गन्धार के अतिरिक्त भारत का सिन्धु जनपद भी ईरानी हखामनि साम्राज्य मे सम्मिलित था जिसे वहाॅ के लेखो मे हिन्दु कहा गया है। पाणिनीय वृक नामक आयुधजीवी सघ की पहचान वर्क या हिर्कानिया (= स वार्कण्य) से पहले की जा चुकी है। वर्क शको का आयुधजीवी सघ था। पाणिनि ने कन्थान्त

---

१ ऐतरेय आरण्यक की भूमिका कीथ पृ २३

नामो का विस्तार से उल्लेख किया है। कन्था—की शक भाषा का शब्द था। दारा प्रथम ५८१—४८६ ई पू और उसके उत्तराधिकारी खयार्ष (४८५—४६५ ई पू) के शासनकाल मे गन्धार ईरानी साम्राज्य का शासित प्रदेश था किन्तु पाणिनि ने स्वतत्र जनपद के रूप मे उसका उल्लेख किया है (साल्वेयगान्धारिभ्या च ४/१/१६६) यह स्थिति ४६५ ई पू के बाद सम्भव हुई होगी। महानन्दिन् के (४४५—४०३ ई पू) साथ पाणिनि की सम—सामयिकता पर विचार करते हुए यह तिथि सगत हो जाती है। ४६० ई पू के लगभग गन्धार जनपद स्वाधीन हो गया होगा। पाणिनि ने लगभग ४४०—४३० ई पू के बीच अपने ग्रन्थ की रचना करने के बाद पाटलिपुत्र की यात्रा की होगी। उस समय उनकी आयु यदि पचास वर्ष मानी जाय तो उनका जन्म ४८० ई पू के लगभग आता है। अष्टाध्यायी जैसे शास्त्र की रचना ४० वर्ष की आयु से ५० वर्ष की आयु मे सिद्ध होनी सम्भव है। उसके लिए आवश्यक बुद्धि का परिपाक गम्भीर चिन्तन दीर्घकालीन सामग्री सकलन एव स्वानु भव के आधार पर साधिकार विश्लेषण ये सब बाते आयुष्य के इसी भाग मे प्राय सम्भव होती है। उनके जीवन काल की अवधि लगभग ६० वर्ष मानने से पाणिनि का समय ४८० ई पू से ४१०ं ई पू अनुमानित होता है।

क्षुद्रक— मालव

सूत्र ४/२/४५ के गणसूत्र मे क्षौद्रक—मालवी सेना का उल्लेख है। यह सेना सिकन्दर से लडी थी। अतएव वेबर ने अनुमान किया कि पाणिनि का समय (और उनके पूर्ववर्ती आपिशलि का भी जिन्होने क्षौद्रकमालवी रूप का विधान किया) सिकन्दर के बाद होना चाहिए। वेबर ने इस तर्क मे इतना और जोडा कि प्राय क्षुद्रक मालवो का आपस मे मेल न था पर विदेशी आक्रान्ता ने दोनो को मिलाकर क्षौद्रक मालवी सेना का सयुक्त सगठन तैयार करा दिया।

वेबर के कथन मे कई भ्रान्तिया है। पतञ्जलि ने जिस आपिशलि विधि का उल्लेख किया है उसका क्षुद्रक मालवो से कुछ भी सम्बन्ध नही है। उसका सम्बन्ध आधेनव उदाहरण से हे जिसका उद्देश्य सामूहिक प्रकरण मे तदन्त विधि का ज्ञापन कराना है।

दूसरे यह कथन भी ठीक नही है कि केवल सिकन्दर के प्रतिरोध के अवसर पर क्षुद्रक–मालवो की सेना सयुक्त हो गई थी। यदि यह मिलन अल्पकालिक या आकालिक होता तो भाषा मे क्षौद्रक–मालवी सेना जैसे विशेष शब्द की आकाक्षा कदापि न होती। वस्तुत क्षुद्रक मालव गणो का यह प्रबन्ध सिकन्दर वाली घटना से बहुत पहले से चला आता था।[१] पाणिनि के समय मे भी लोक विदित था। तभी उसके लिए क्षुद्रकमालवात्सेनासज्ञायाम् इस अन्तर्गण सूत्र की आचार्य ने रचना की। न जाने वेबर ने क्यो यह कल्पना कर ली कि केवल सिकन्दर के युद्ध के लिए ही क्षुद्रक मालव एक हो गये थे। कर्टियस ने तो स्पष्ट कहा है कि क्षुद्रको और मालवो की सेना का सगठन उनकी पहले से चली आयी प्रथा थी और उसी के अनुसार क्षुद्रको के एक वीर को समस्त सेना के सेनापति रूप मे चुना गया।[२] सयुक्त सेना के विषय मे समझौता हो जाने पर भी दुर्भाग्य से ठीक युद्ध के समय दोनो मे मतभेद हो गया और स्थिति जैसा वेबर ने लिखा है ठीक उसके विरीत हो गई। इस विषय मे डियोडोर की यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि क्षुद्रक और मालव सेनापति के चुनाव के विषय मे एकमत न हो सके और फलत एक साथ युद्ध करने से विरत हो गये। कर्टियस से भी उसका समर्थन होता है– 'युद्ध से पूर्व की रात को दोनो मे मतभेद हो गया और उनकी सेनाए अपने–अपने गुप्त प्रदेश से हट गई। उसने यह भी लिखा है कि सेना का अधिकाश भाग क्षुद्रको के दुर्ग मे चला गया और वही से सिकन्दर के विरूद्ध उन्होने अतिघोर सग्राम किया। अन्त मे क्षुद्रको

---

१ सयुक्त क्षौद्रक मालवी सेना मे ६०००० पदाति १०००० अश्वारोही और ६०० रथ थे। (कर्टियस)

२ मैक्रिण्डिल सिकन्दर का आक्रमण पृष्ठ २३६

की यूनानियो से सन्धि हुई जिन्होने सौ क्षुद्रको का बडी आव–भगत से स्वागत किया। इस पृष्ठभूमि मे भाष्य का यह उल्लेख कि क्षुद्रको ने किसी की सहायता के बिना अकेले युद्ध किया सगत हो जाता है। (एकाकिभि क्षुद्रकैर्जितम असहायैकित्यर्थ)।

इससे यह निश्चित है कि पाणिनि और यूनानी लेखक दोनो के अनुसार सयुक्त क्षौद्रकमालवी सेना का अस्तित्त्व सिकन्दर के पूर्व से चला आता था। वेबर के उसके विपरीत तर्क मे जिससे बहुतो को भ्रान्ति हुई कोई तथ्य नही है।

पाणिनि और सघ राज्य

पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे जिन सघ राज्यो की लम्बी सूची दी है वे चन्द्रगुप्त मौर्य के मगध–साम्राज्य के पूर्व की राजनैतिक स्थिति से सगत होते है। यह स्थिति पाचवीं शताब्दी ई पू मे थी।

पाणिनीय मुद्राओं की साक्षी

प्राचीन मुद्राओ के विषय मे अष्टाध्यायी की सामग्री अर्थशास्त्र की सामग्री से प्राचीनतर युग की है। उदाहरणार्थ– पाणिनि मे निष्क सुवर्ण शाण और शतमान नामक पुराने सिक्को का उल्लेख है जो कौटिल्य को अविदित थे। इसके अतिरिक्त विशतिक और त्रिशत्क नामक दो अति महत्त्वपूर्ण सिक्को का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है जो उनके समय मे चालू थे पर कौटिल्य को जिनका पता न था। शतमान सिक्के का आरम्भ पाणिनि से भी कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था (लगभग ८वी–५वी शती ई पू)।

विशतिक नामक बीस माशे या चालीस रत्ती तोल के भारी सिक्के का उल्लेख अष्टाध्यायी की उल्लेखनीय विशेषता है। यह सिक्का विम्बिसार के समय अर्थात छठी शती ई पू मे राजगृह मे चालू था। मगध जनपद के अतिरिक्त और जनपदो मे भी इस मुद्रा का चलन था। इसके अतिरिक्त

पाणिनि मे जिस कार्षापण का उल्लेख है वह भारी तोल के विशतिक से भिन्न सिक्का होना चाहिए। कौटिल्य और मनु के अनुसार कार्षापण १६ माशे या ३२ रत्ती तोल का सिक्का था। इस प्रकार अष्टाध्यायी मे विशतिक और कार्षापण दोनो का उल्लेख है जबकि अर्थशास्त्र मे केवल पण का (कार्षापण का ही दूसरा नाम)। भारतीय मुद्राओ के इतिहास की दृष्टि से केवल ५वी शती ई पू मे ही यह सम्भव था कि विशतिक और कार्षापण दोनो एक साथ चालू रहे हो। नन्दो ने सिक्को के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। नन्दो के सिक्को की निम्नलिखित विशेषताए ध्यान मे आती है—

१ बीस माशे के विशतिक की जगह सोलह माशे के कार्षापण का प्रचलन।

२ पुराने सिक्को पर बडी आकृति के रूप या चिह्न और छोटी आकृति के रूप मुद्रा के एक ओर ही आहत किये जाते थे जैसा कि प्राप्त नमूनो से ज्ञात होता है। नन्दो की नई मुद्राओ पर यह सुधार किया गया कि बडे रूप चित दाव या सामने और छोटे पटदाव या पीछे आहत किए जाने लगे।

३ विशतिक मुद्राओ पर चार रूप या बडे चिह्न होते थे। कार्षापण पर पाच रूप आहत किये जाने लगे।

४ रूप पञ्चक मे सूर्य और षडर नामक चिह्न सब मुद्राओ पर आवश्यक कर दिये गये जैसा कि पहले की विशतिक मुद्राओ पर न था।

५ प्रत्येक रूप की आकृति पहले से अधिक स्पष्ट और सरल कर दी गई किन्तु उनकी सख्या मे बहुत वृद्धि हो गई। विशतिक मुद्राओ पर चिह्नो की ऐसी बहुविविधता न थी जैसी कार्षापण मुद्राओ पर।

मुद्राओ की साक्षी के आधार पर पाणिनि को विम्बिसार और कौटिल्य के मध्य मे अर्थात् छठीं और चौथी शती-के मध्य मे रखना होगा। अतएव पाचवीं शती का मध्यभाग अष्टाध्यायी की मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण सामग्री की व्याख्या के लिए सर्वाधिक समीचीन है।

मनुष्य नाम

मनुष्य नामो के सम्बन्ध मे पाणिनीय सामग्री काल विषयक ऊपर की सम्भावना का समर्थन करती है। ब्राह्मण और उपनिषदो के युग मे केवल गोत्र नामो का प्रचार था। मौर्य युग मे नक्षत्र नामो की खूब प्रथा थी और नामो को सक्षिप्त भी किया जाने लगा था। अष्टाध्यायी मे बीच की वह स्थिति है जब गोत्रनामो और नक्षत्रनामो का एक साथ प्रचार था। गोत्र नाम प्राचीन वैदिक प्रथा के अनुकूल थे। नक्षत्र नामो का आरम्भ गृह्यसूत्रो के युग से हुआ। गोत्रनाम को सक्षिप्त करना सम्भव न था। अतएव मनुष्य नामो को सक्षिप्त करने के लिए जो विशेष नियम पाणिनि ने दिये है वे नक्षत्र नामो अथवा इतर नामो मे ही सम्भव थे। प्राचीन पालि साहित्य मे गोत्रनाम और नक्षत्रनाम दोनो का एक सा प्रचार है। अतएव उसे पाणिनीय युग के अधिक निकट मानना होगा।

पाणिनि और जातक

कितने ही शब्दो की दृष्टि से पाणिनि की भाषा जातको की शब्दावली से अपेक्षाकृत पूर्वकालिक थी। किन्तु कुछ शब्दो मे दोनो मे आश्चर्य–जनक सादृश्य है। उदाहरणार्थ–द्वैप वैयाघ्र और पाण्डुकम्बल शब्द पाणिनि और जातक दोनो मे आये है। ये शब्द पालि गाथाओ मे है जो कि जातको का प्राचीनतम अश था। दोनो की भाषा का सान्निध्य पाणिनि को पञ्चम् शती ई पू मे रखने मे सगत हो जाता है।

वास्तव मे पाणिनि के काल के विषय मे इतने विवाद एव मत प्रचलित है कि कुछ निश्चयात्मक कहना कठिन लगता है। फिर भी ऐतिहासिको एव आलोचको के अधिकतम मान्य मतो के आधार पर पाणिनि का काल पाचवी शताब्दी ई पू ही उचित जान पडता है।

द्वितीय-सोपान

द्वितीय-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित राजनीति व्यवस्था

राजतंत्र और शासन

पाणिनि के युग मे राज्य और सघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा जिस तन्त्र मे अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे जिन शासन पद्धतियो का उल्लेख है जैसे– भोज्य साम्राज्य स्वराज्य वैराज्य आदि उनमे राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथिवी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था जबकि इसके विपरीत उससे विस्तृत भू–प्रदेश या समस्त देश के लिये सर्वभूमि शब्द था और वहाँ का शासक सार्वभौम कहलाता था। अपने जनपद के राज्य से आगे बढकर जो राजा अनेक जनपदो तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था और जो सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का आधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। महाभारत के आदिपर्व मे महाराज भरत के लिये सार्वभौम सज्ञा का प्रयोग किया है।[1] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार सार्वभौम राजा सर्वपृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी होता था।[2]

राजा के लिये ईश्वर भूपति अधिपति शब्दो का प्रयोग होता था। सूत्र यस्य चेश्वरवचन तत्र सप्तमी मे उन प्रयोगो को नियमित किया गया है जिनसे जनपद के राजा का नाम सूचित किया जाता था।

१ महाभारत आदि पर्व ६६/४५–४६

२ आपस्तम्ब ३०/१/१)

भाष्य मे एक उदाहरण है— अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला अर्थात पञ्चाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार मे है या इसे इस प्रकार भी कह सकते थे— अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्त अर्थात पञ्चाल जनपद मे ब्रह्मदत्त राजा है। ईश्वर शब्द के सम्बन्ध मे यह ध्यातव्य है कि प्राचीन साहित्य मे प्राय वह राजा या पृथिवीपति के लिये प्रयुक्त हुआ है भगवान के लिये नही। निघण्टु मे राष्ट्री अर्य नियुत्वान् इन और ईश्वर पर्याय है। सूत्र २/४/२३ सभा राजामनुष्यपूर्वा मे भाष्य मे राजा को इन और ईश्वर का पर्याय कहा है। पाणिनि ने अर्य को स्वामी का पर्याय माना है— अर्य स्वामि वैश्ययो ३/१/१०३। जिस पुरुष मे ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था— स्वामिन्नैश्वर्ये ५/२/१२६। ईश्वर या राजा की अधिकार शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतञ्जलि ने कहा है कि स्वामी शब्द मे ऐश्वर्य का अर्थ प्रत्यय के कारण नहीं आता वरन् उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है। ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामी आरम्भ मे राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था। इस शब्द मे भी 'ऐश्वर्य उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेषता थी— पत्यावैश्वर्ये ६/२/१८। अतएव भूपति का अर्थ साधारणतया भूस्वामी ऐसा नहीं था अन्यथा वह किसान के लिये भी प्रयुक्त हो जाता किन्तु पृथिवी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमे हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। स्वामी और ईश्वर के साथ पठित अधिपति शब्द का कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ भी था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची मे आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की सज्ञा है। पडोसी जनपदो पर उस प्रकार का अधिकार जिसमे वे अधिपति को कर देना स्वीकार करे आधिपत्य कहलाता था।[1] साम्राज् शब्द मो राजि सम क्वौ ८/३/२५ विशिष्ट राजपदवी का सूचक था। महाभारत मे सम्राज् को कृत्स्न भाक कहा गया है अर्थात वह शासन प्रणाली जो औरो से स्वत्व या अधिकारो को छीनकर आत्मसात् कर लेती है एव साम्राज्य मे विलीन होने पर पुन उसका-स्वतत्र अस्तित्व नही रह जाता।[2]

१ महाभारत आदि पर्व १०३/१ १०५/११–१५, २१ हिन्दू राजतत्र जायसवाल पृ २२५
२ सम्राज शब्दो हि कृत्स्नभाक – महाभारत सभापर्व १४/२

महाराज शब्द का दो बार उल्लेख अष्टाध्यायी मे आया है। शब्द रुप एक होते हुये भी महाराज वहॉ देवता के लिये प्रयुक्त है।– महाराज प्रोष्ठपदाटठञ् ४/२/३५ महाराजो देवतास्य महाराजिकम् महाराजाटठञ ४/३/९७ महाराजो भक्तिरस्य महाराजिक। वैसे महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

राजसभा २/४/२३

मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त बडी सभा राजसभा कहलाती थी। अनुश्रुति के अनुसार विन्दुसार की राजसभा मे पाच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणो मे भाष्य मे चन्द्रगुप्तसभा पुण्यमित्र सभा के नाम है।

सूत्र अशाला च ४/२/२४ और सूत्र सभा राजामनुष्यपूर्वा ४/२/२३ साथ मिलाकर विचार करे तो ज्ञात होता है कि राजसभा के दो अर्थ थे एक सभासदो का समूह और दूसरे वह भवन जहॉ सभा होती थी। वैदिक युग मे भी सभा शब्द के ये दोनो अर्थ थे।[1] वैदिक कालीन सभा खम्भो के आधार पर टिकी होती थी जैसा सभास्थाणु शब्द से सूचित होता है। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्त्व गत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन मे लगभग अस्सी पाषाणस्तम्भो पर उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिले है। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले है। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण यूनानी लेखको ने दिया है। पूर्वमौर्ययुग मे काष्ठशिल्प का प्रचार या जैसा ४/२/२३ सूत्र पर सुरक्षित काष्ठसभा उदाहरण से सूचित होता है। भास ने राजप्रासादो के निर्माण मे काष्ठशिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2]

---

१ वैदिक इण्डेक्स २/४२६

२ कन्यापुरप्रासाद एष तु काष्ठकर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च –अविमारक भासनाटकचक्र पृ १४२

राजकृत्वा ३/२/९५

वैदिक युग मे जिन रत्नी नामक अधिकारियो को राजकृत (राजा के बनाने वाले) कहा जाता था[१] पाणिनि ने उनके लिये राजकृत्वा शब्द का प्रयोग किया है— राजनि युधिकृञ ३/२/९५, राजानम् कृतवान इति राजकृत्वा। रामायण मे भी मन्त्रियो को राजकर्तार कहा गया है।[२]

युवराज ४/२/३६

राजा के पुत्रो को राजपुत्र एव राजकुमार कहा जाता था। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे (१) बालक राजा— राजा चासौ कुमारश्च। (२) राज्ञ कुमार अर्थात् राजा का कुमार पुत्र। सभी राजपुत्रो मे महिषी का ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था। आर्य ब्राह्मण और आर्यकुमार दोनो मे आर्यशब्द राजशास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।[३] जातको मे आर्यकुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक मे राजा के दो पुत्रो मे से ज्येष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। राजा की मृत्यु के पश्चात् उपराजा राजा एव सेनापति उपराजा बन गया।[४]

मन्त्रिपरिषद् ४/३/१२३, ५/२/११२

पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदो का उल्लेख किया है— १ सामाजिक परिषद् २ चरणो के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद् ३ राजनैतिक मन्त्रिपरिषद्। परिषद् का सदस्य पारिषद या पारिषद्य कहलाता था। (पारिषदोण्य ४/४/४४४)। पारिषद विशेषण उसी के लिये प्रयुक्त होता था जिसका परिषद मे बैठने का न्याय्य अधिकार था। सामाजिक परिषद् गोष्ठी या समाज की भॉति मनोरञ्जन की सस्था थी जिसमे सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे।

१ अथर्ववेद ३/५/६/७

२ समेत्य राजकर्तारो भरत वाक्यमब्रुवन — रामायण अयोध्या ७९/१

३ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे उसे आर्य कहकर पिता ने युवराज चुना था — आर्यो हीत्युपगुह्य।

४ जातक ६/३०

राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुत मन्त्रिपरिषद सस्था थी। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे उनके लिये परिषद्वलो राजा यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था– रज कृष्यासुति परिषदो वलच् ५/२/११२। बौद्ध साहित्य अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखो मे इस परिषद का उल्लेख आता। महासीलव जातक मे राजा के अमात्यो की परिषद् को सुविनीत कहा गया है।[1] सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है जिसे कौटिल्य ने विनयाधिकार और पाणिनि ने वैनयिक कहा है। उसी विनय से युक्त मन्त्रिपरिषद् विनीत कहलाती थी। सब मन्त्री अपने कार्य सम्पादन मे राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने कहा है कि अत्यावश्यक कार्यो पर विचार करने के लिये परिषद् का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए– आचयिक = आत्ययिक। अर्थशास्त्र मे मन्त्रिपरिषद् के सगठन के विषय मे पूरा विवरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजतत्र मे उस समय परिषत् का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था।[2] मन्त्रिपरिषद् के साथ कार्य करने वाला राजा इस अर्थ का द्योतन कराने वाला परिषद्वलो राजा यह सटीक शब्द भाषा मे चल गया था।

महिषी ४/४/४८

भारतीय राजतत्र मे पट्टमहादेवी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसका भी सिहासन पर महाभिषेक किया जाता था। पाणिनि ने महिषी का उल्लेख करते हुये उसे मिलने वाले धर्मत प्राप्य या धर्म्य देय का उल्लेख किया है जो माहिष कहलाता था– अण् महिष्यादिभ्य ४/४/४८ महिष्याधर्म्य माहिषम्। इसी गण मे महिषी के बाद प्रजावती (राजा की अन्य रानियो) का उल्लेख है। उन्हे मिलने वाला धर्म्य (आचारयुक्त) देय प्राजावत था। माहिष और प्राजावत धर्म्य देय वह पूजावेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के

१ एव सुविनीता किस्स परिसा जा १/२६४

२ अर्थशास्त्र १/११

अनुसार पट्टमहादेवी और दूसरी रानियो को पाने का अधिकार था। कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है। तदनुसार राजमहिषी को ४८००० पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को १२००० पण वार्षिक भत्ता देय था।[1] महिषी के अतिरिक्त और सब रानियॉ प्रजावती कहलाती थी। बुद्धमाता के अतिरिक्त शुद्धोदन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थी। पाणिनि ने असूर्यपश्या स्त्रियो का उल्लेख किया है जिसे टीकाकार राजदारा मानते है। ये राजाओ के अन्त पुर या अवरोध मे रहने वाली स्त्रियॉ थीं जिन्हे अशोक के लेखो मे ओरोधन कहा है।

सभ्य ४/४/१०५

जिस प्रकार परिषद् की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखने वाले के लिये पारिषद्य शब्द था उसी प्रकार सभा की सदस्यता के लिये जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे— सभाया य ४/४/१०५, सभाया साधु इसके लिये प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था— ढश्छन्दसि ४/४/१०६। वैदिक सभा मे ब्राह्मण मधवन्त ही सदस्य हो सकते थे ऐसा कुछ विद्वानो का कहना है।[2]

पुरोहित ५/१/१२८

कौटिल्य के अनुसार मुख्यमत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्व होता था और उसके बाद सेनापति का और तब युवराज का।[3] वेद और दण्डनीति दोनो का पाण्डित्य पुरोहित के लिये आवश्यक था। पाणिनि ने पुरोहितादिगण मे पुरोहित का उल्लेख करते हुये उसके कर्म भाव और पद को पौरोहित्य कहा है— पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक् ५/१/१२८ पुरोहितस्य भाव कर्म च। पत्यन्त शब्दो के अन्तर्गत सेनापति के कर्म और भाव को सेनापत्य कहा गया है। इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था।

---

१ अर्थशास्त्र ५/६

२ वैदिक इण्डेक्स २/४२६

३ अर्थशास्त्र ५/३

अषडक्षीण मन्त्र ५/४/७

अष्टाध्यायी मे अषडक्षीण विशिष्ट शब्द है जिसका अर्थ है कि जिसे छ ऑखो ने न देखा हो– (अ+षड+अक्ष+ईन)। काशिका मे इसके अर्थ की वास्तविक परम्परा का उल्लेख किया है– अषडक्षीणो मन्त्र । यो द्वाम्यामेव क्रियते न बहुभि अर्थात् अषडक्षीण उस मन्त्र या राजा के परामर्श को कहते है जो दो के साथ किया जाय बहुतो के साथ नहीं। इसका तात्पर्य था वह अतिगुप्त मन्त्र जो केवल राजा और प्रधानमत्री या आर्यब्राह्मण के बीच जिसमे और मन्त्री सम्मिलित न किये गये हो। ऐसा मन्त्र साधारण न होता था। अतिमहत्त्वपूर्ण राजरहस्य का द्योतक होने के कारण मन्त्रिपरिषद् की शब्दावली मे उसके लिये पृथक् शब्द की आकाक्षा स्वाभाविक थी। इसी को दूसरे शब्दो मे कहा गया– षटकर्णो भिद्यते मन्त्र । छ कानो के बीच गया हुआ मन्त्र फूट जाता है गुप्त नहीं रहता है। गोस्वामी तुलसी दास ने भी तो यही कहा है।[1] सौभाग्य से कौटिल्य ने इस सस्था पर ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजा कितने मन्त्रियो से परामर्श करे अर्थात मन्त्रिपरिषद् मे मन्त्रियो की सख्या क्या हो इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यो के कई मत थे। पिशुन पाराशर विशालाक्ष और भारद्वाज के मतो का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मन्त्रियो की सख्या तीन या चार होनी चाहिये।[2] इस विषय मे भारद्वाज कर्णिक का मत सबसे उग्र था।[3] राजा को उचित है कि गुह्य मन्त्र के सम्बन्ध मे अकेला ही विचार करे अर्थात् एक स्वय और एक मुख्यमन्त्री ही मन्त्र करे। इसी प्रकार मन्त्र अषडक्षीण कहलाता था जो केवल राजा और मुख्यमन्त्री की चार ऑखो तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते है कि अधिक मन्त्रियो के बीच मे गया हुआ गुह्यमन्त्र फिर गुह्य नही रह सकता वह फूट जाता है।[4]

---

१ छठे श्रवन यह परत कहानी।
नाश तुम्हार सत्य मम बानी।। – रामचरित मानस वा का १६५/२

२ अर्थशास्त्र १/१५

३ गुह्यमेको मन्त्रयेतेति भारद्वाज – अर्थ १/१५

४ मन्त्रिपरम्परा मन्त्र भिनत्ति – अर्थ– १/१५

अषडक्षीण मन्त्र राज्य के आत्यायिक अर्थात अत्यावश्यक कार्यो से सम्बन्धित होते थे। कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख छ मे आत्यायिक कार्यो के विषय मे मन्त्रणा करने का उल्लेख किया है।[1] यहॉ परामर्श की दो कोटिया है– मन्त्रिण मन्त्रिपरिषद्। आवश्यक कार्य के विषय मे राजा पहले मन्त्रियो से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मन्त्रिपरिषद् के साथ भी। मन्त्रिण पद से तात्पर्य मुख्यमत्री दो मन्त्री तीन या चार चुने हुये मन्त्रियो से है।

मुख्यमन्त्री या आर्यब्राह्मण ६/२/५८

आर्यो ब्राह्मण कुमारयो सूत्र ६/२/५८ मे आर्यकुमार शब्द युवराज के लिये और आर्यब्राह्मण शब्द मुख्यमत्री के लिये प्रयुक्त हुये है। अगले सूत्र राजा च ६/२/५९ मे पाणिनि ने राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। कर्मधारय समास मे राजब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरूष समास मे राजब्रह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्यमत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका सकेत पाणिनि ने ब्राह्मणमिश्रो राजा सूत्र मे किया है।

ब्राह्मणमिश्रो राजा ६/२/१५४

राजसस्था के इतिहास की दृष्टि से पाणिनि का ६/२/१५४ सूत्र मिश्र चानुपसर्गमसन्धौ महत्त्वपूर्ण है।

तृतीयान्त समास मे मिश्र शब्द अन्तोदात्त होता है यदि उसके पहले उपसर्ग न हो और उसका अर्थ सन्धि न हो।

यहॉ सन्धि शब्द सूत्र की कुञ्जी है। कौटिल्य ने इसका जो परिभाषात्मक अर्थ दिया उसकी परम्परा हमे काशिका मे सुरक्षित मिलती है।[2] यहॉ सन्धि का तात्पर्य है– परस्पर समझौता। शर्तनामे के द्वारा दोनो का

---

१ आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषद चाहूय ब्रूयात। अर्थ १/१५

२ असन्धाविति किम्। ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणै सह सहित एकार्थ्यमापन्न। सन्धिरिति हि पणवन्धेनैकार्थ्यम् उच्यते– काशिका ६/२/१५४

आपस मे इस प्रतिज्ञा से बध जाना कि यदि तुम यह करोगे तो मै यह करुँगा इसका नाम पणबन्ध या सन्धि है। कौटिल्य ने पणबन्ध सन्धि यही परिभाषा दी है।[1] सन्धि राजतत्र का शब्द था। इस पृष्ठभूमि मे ब्राह्मण मिश्र राजा प्रत्युदाहरण साभिप्राय हो जाता है। जो राजा ब्राह्मण के साथ सन्धि या पणबन्ध करता था उसके लिये भाषा मे इस सार्थक शब्द का नया प्रयोग प्रचलित हुआ था। तीन प्रश्न है– किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की सन्धि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी ? इन तीनो का उत्तर भारतीय राजतत्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है–

पाणिनि ने आर्यो ब्राह्मणकुमारयो ६/२/५८ सूत्र मे जिसे आर्यब्राह्मण कहा है वही यह ब्राह्मण था जिसके साथ राजा का पणबन्ध होता था। आर्य ब्राह्मण मन्त्रिपरिषद् या पाली शब्दो मे अमच्च परिसा मे सर्वप्रधान मुख्यामात्य होता था। आर्य उसकी पदवी या सम्बोधन था। आर्य चाणक्य उसी पद का सूचक है। प्रत्येक परिषद्वल राजा का परिषद्वल विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद् के मुख्यमत्री या आर्यब्राह्मण के साथ अपनी सन्धि का पालन करता था। यह राजतत्र मे मन्त्रिपरिषद् की बडी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मन्त्रिपरिषद् कहने–सुनने के लिये या राजा की निरकुश इच्छा का खिलवाड न थी। वह राजा पर सच्चा अकुश रखती थी और उसे भी अनुचित कार्य करने से रोक देती थी। अशोक और रुद्रदामन् की परिषद् इसके उदाहरण है। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष मे से बौद्ध सघ को अधिक धन देना चाहा तो उसे परिषद् ने रोक दिया।[2]

राजा और ब्राह्मण के बीच की सन्धि के वास्तविक स्वरुप का यही सकेत है। राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तब राज्यासन पर बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक मे वह शपथ दी हुई है– राजा कहता था जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी उन दोनो के बीच मे जो मेरी सन्तति

१. अर्थशास्त्र ७/१
२ प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति – के सी श्रीवास्तव पृ २३२

धन आयुष्य और यश है वह सब नष्ट हो जाय यदि प्रजाओ से मै द्रोह करुँ। यह अभिषेक शपथ सविधान की कुञ्जी थी इसी कारण राजा की परिभाषा चरितार्थ होती थी।[१] प्रजा से द्रोह न करुँ का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रञ्जन करुँ। व्यवहार मे प्रजा रञ्जन की कसौटी या मर्यादा क्या थी ? यह उसी प्रकार थी जैसी आज है अर्थात् मन्त्रिपरिषद् के साथ राजा का एकार्थ्य भाव या राजा के पणबन्ध की सच्चाई। इसका स्वरुप वही था जो मनु ने लिखा है अर्थात् राजा षाडगुण्य के विषय मे अपने मुख्यमत्री से अवश्य परामर्श करे।[२] जब तक राजा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रञ्जन की कसौटी पर खरा उतरता यानि कि वह प्रजाओ से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक शपथ को पालने वाला समझा जाता था।

प्रश्न उठता है कि मुख्यमत्री के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यो किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान राजशास्त्रवेत्ता ही मुख्य मत्री होते थे और उनकी पदवी ब्राह्मण थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि जिस क्षत्र को ब्राह्मण का समर्थन प्राप्त है जिसे अपनी परिषद के अन्य मन्त्रियो के परामर्श का लाभ प्राप्त है जो शास्त्र का पालन करता है वह अजित प्रदेशो को भी अपने विजित मे ले आता है।[३] मुख्यमत्री जाति से ब्राह्मण हो या न हो इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं था यह तो राजशक्ति को प्रजाहित मे मर्यादित और सञ्चालित करने वाले आर्य व्यक्ति को खोज निकालने और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय मे आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आया था। वहाँ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार मे मान्य था– ब्राह्मण क्षत्रेण च श्री परिगृहीता भवति अथवा पत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्पञ्चौ चरत सह। मनु ने भी इस सिद्धान्त को अविकल ग्रहण किया था।[४]

१ 'राजा प्रकृतिरञ्जनात राजा प्रजा रञ्जन लब्धवर्ण – महाभारत शान्तिपर्व २९/१३६
२ मनु ७/५८
३ कौटिल्य अर्थशास्त्र १/१८
४ मनु ६/३२२

अब तीसरे प्रश्न पर विचार करना चाहिए। भारतीय इतिहास के किस युग मे परिषद्वलो राजा और ब्राह्मण मिश्रो राजा ये दो सूत्र व्यवहार मे सत्य थे ? जो प्रमाण सामग्री उपलब्ध है उसके साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाजनपद युग से मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधान मन्त्री का भी उतना ही महत्त्व था। साहित्य मे कई महामन्त्रियो के नाम आते है जैसे– मगधराज अजातशत्रु के महामन्त्री वर्षकार कोसलराज विडूडभ के महामन्त्री दीर्घ चारायण वत्सराज उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री आर्य चाणक्य अशोक के राधागुप्त अवन्तिराज पालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन (अर्थशास्त्र के टीकाकार)। ये सभी महामन्त्री अपने शासको की नीति के सर्वाश मे निर्देशकर्ता थे।

राजकुल के प्रतीहारी परिचारक

राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते थे जैसे– राजा के निजी अगरक्षक दौवारिक या प्रतीहार स्वागतिक अधिकारी। अष्टाध्यायी मे इन सबका नाम सहित उल्लेख आया है।

अङ्गरक्षक ६/२/६०

राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अगरक्षक अधिकारी जिन्हे कौटिल्य ने आत्मरक्षितक[1] कहा है उन्हे ही पाणिनि ने राजप्रत्येनस (षष्ठी प्रत्येनसि ६/२/२०) कहा है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे उग्र सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है।[2] यहाँ उसका अर्थ दण्डरक्षक किया गया है। राजा की शरीर रक्षा का कार्य बहुत दायित्वपूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिये विशेष विधान का आदेश दिया है। पाणिनि से ही यह ज्ञात होता है कि राजकुमारो को यह दायित्व या सम्मानित पद सौपा जाता था। आदि प्रत्येनसि सूत्र ६/२/२७ मे कुमारप्रत्येना शब्द का अर्थ है वह राज कुमार जो राजा का प्रत्येनस या अगरक्षक नियुक्त किया गया हो।

---

१ अर्थशास्त्र २/३१

२ वृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/४३ ४४

दौवारिक ७/३/४

राजकुल मे द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक कहलाता था। राजकुल की डयौढी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इसी अधिकारी के ऊपर होता था। बाण ने हर्ष चरित मे अनेक प्रकार के राजकुल के सेवको का उल्लेख किया है जैसे– वाह्य प्रतीहार आभ्यन्तर प्रतीहार महाप्रतीहार उन सबके ऊपर दौवारिक सञ्ज्ञक महाप्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवत उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था। कौटिल्य ने दौवारिक का वार्षिक वेतन २४ ००० पण दिया है अर्थात महिषी का १/२ और प्रजावती रानियो का दो गुना जिससे इस पद के महत्व की सूचना मिलती है।[१]

स्वागतिक अधिकारी ७/३/७

राजा की दिनचर्या नियत रहती थी। कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे जो उन विशेष मुहूर्तो मे राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उनकी दिनचर्या को नियमित बनाने मे सहायक होते थे। राजसभा मे राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था। राजा के प्रात काल नित्यकर्म से निवृत्त होने पर जो उसके लिये स्वस्तिवाचन पाठ करता था वह सौवास्तिक कहलाता था। कात्यायन ने इनका और उल्लेख किया है– (१) सौखशायनिक जो प्रात काल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके रात मे सुखपूर्वक शयन करने के विषय मे प्रश्न करता था अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था। (२) सौखरात्रिक – वह व्यक्ति जो सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध मे कुशल प्रश्न पूछता था। (३) सौस्नातिक – वह व्यक्ति जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था– सुस्नात पृच्छति। कालिदास ने राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है।[२]

---

१ दौवारिक सन्निधातार चतुर्विंशति साहस्रा। –अर्थशास्त्र ५/३

२ रघुवश ६/६१

जो व्यक्ति राजा के लिये सुखशय्या तैयार करके अपनी जीविका चलाते थे उसे सौखशय्यिक कहते थे। बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओ मे चौथी तथागत शय्या उस शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुखनिद्रा थी। बुद्ध ने उसे ही सच्ची सुखशय्या माना था।[1] इससे यह सूचित होता है कि राजा एव आढय पुरुषो के लिये जो विशिष्ट शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल मे सुखशय्या थी उसके लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे जो सौखशय्यिक कहलाते थे।

शासन

एकराज शासन मे सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिये मन्त्रियो की परिषद् होती थी। सभा नाम की बडी समिति भी थी। परिषद् मे मन्त्रियो की सख्या का निर्देश अष्टाध्यायी मे नही है किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है कि उनकी सख्या प्रशासन की आवश्यकतानुसार नियत की जाती थी फिर भी पाणिनि ने आर्यब्राह्मण या मुख्यमन्त्री पुरोहित आर्यकुमार या युवराज[2] और सेनापति का सूत्रो मे उल्लेख किया है। ये महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा मे इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

शासनतन्त्र के अधिकारी

सूत्रो मे कई प्रकार के शासनिक अधिकारियो का उल्लेख आया है। शासन के सञ्चालन के लिये अधिकारी तन्त्र का सगठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणतया युक्त २/३/४० ६/२/८१ या आयुक्त कहे जाते थे जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषो का उल्लेख किया है।[3]

---

१ अडगुत्तर निकाय ३/३४

२ अशोक के ब्रह्मगिरि लघुशिलालेख मे इसे ही आर्यपुत्र कहा गया है।

३ अर्थशास्त्र १/१५

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किये जाते थे तब वे नियुक्त कहलाते थे और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पडता था— तत्र नियुक्त ४/४/६६। काशिका मे इनके कुछ प्राचीन उदाहरण इस प्रकार है— शुल्कशाला मे नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक खानो मे नियुक्त आकरिक बाजार के प्रबन्ध मे नियुक्त आपणिक गुल्म या सेना की टुकडी का प्रबन्धक गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध मे नियुक्त दौवारिक कहलाता था। नियुक्त अधिकारियो के कुछ नाम आगारान्ताट ठन् ४/४/७० सूत्र मे भी अन्तर्निहित है जैसे— कोष्ठागारिक जिसका पद अध्यक्ष कोटि का था। देवागारिक देवताध्यक्ष का ही दूसरा नाम था।

राजा के निजी परिचारक या परिपार्श्विक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियो मे गिने जाते थे। अधि नियुक्ते ६/२/७५ सूत्र पर उल्लिखित उदाहरणो से ये नाम ज्ञात होते है— क्षत्रधार तूणीधार (तरकश उठाने वाला) भृङगाधार (जल की झारी आचमन सुखमार्जन आदि का प्रबन्ध करने वाला)।

अध्यक्ष

शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। उनका उल्लेख पाणिनि ने विभाषाध्यक्षे ६/२/६७ सूत्र मे किया है। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक—एक विभाग के सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र मे २५ अध्यक्षो के नाम आये है जिनमे अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी है जिनका उल्लेख काशिका ने ६/२/६७ के उदाहरणो मे किया है।

पाणिनीय सूत्रो मे शासन के अधिकारियो एव कर्मचारियो के आये हुये नामो का विवरण हम निम्नवत् व्याख्यायित कर रहे है।

युक्त २/३/४०, ६/२/८१

कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवको की सामान्य सज्ञा थी जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस—उस विभाग मे कार्य करते थे। प्रत्येक

अधिकरण या विभाग मे युक्त उपयुक्त और तत्पुरुष–तीन प्रकार के अधिकारी होते थे।[1] पाणिनि ने भी युक्त सञ्ज्ञक अधिकारियो का उल्लेख किया है ६/२/८१। प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश से कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त ये ही दो प्रकार के अधिकारी शासन की सच्ची रीढ थे। अष्टाध्यायी मे दोनो के उल्लेख से सूचित होता है कि जिस सुविहित शासन सस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है वह उनसे एक दो शती पूर्व मे ही अस्तित्व मे आ चुकी थी। सम्भवत नन्दवशीय सम्राटो मे शासन की उस पद्धति का सगठन किया गया था।

पाणिनि ने अश्वशाला के युक्त अधिकारियो को युक्तारोही कहा है ६/२/८१। अर्थशास्त्र मे उन्हे ही युक्तारोहक[2] कहा गया है। उन्हे प्रतिवर्ष ५००–१००० कार्षापण तक वेतन दिया जाता था। युक्तारोहक अधिकारियो का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोडो को शिक्षा देकर उन्हे आरोहण के योग्य बनाना था।[3]

पाणिनि ने पालसञ्ज्ञक छोटे अधिकारियो का भी उल्लेख किया है ६/२/७८ गोतन्तियव पाले। पाणिनि के अलावा महाभारत मे गोपाल तन्तिपाल एव सभापाल का उल्लेख है।[4] विराटपर्व मे तन्तिपाल को बडा अधिकारी कहा गया है।[5] जिसकी अधिकारिता मे और भी पाल काम करते थे।

युक्तसञ्ज्ञक अधिकारियो मे काशिका के गोसख्य और अश्वसख्य की तरह महाभारत मे पशुगणना का उदाहरण वनपर्व के घोषयात्रा प्रकरण मे आया है जहॉ दुर्योधन के घोष मे पोषित गाय बछडे बछिया और ग्याभिन ओसर इन सब की आयु रग और लक्षणो को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है। इस गणना को स्मरण कहा गया है जो कि इस कार्य के लिये पारिभाषिक शब्द था।[6]

---

१ सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्त तत्पुरुषाणाम – अर्थ २/५

२ अर्थशास्त्र ५/३

३ अविधेय हस्त्यश्वारोहण समर्थ – गणपति शास्त्री अर्थशास्त्र की टीका मे ५/४

४ महाभारत आदि पर्व २२२/१६

५ महाभारत विराट पर्व ११/८

६ महाभारत वनपर्व २३६/४०

कारकर और क्षेत्रकर ३/२/२१

पाणिनि ने ३/२/२१ सूत्र मे कारकर और क्षेत्रकर का उल्लख किया है जो विशेष अधिकारियो की सज्ञाये थी। खेतो की नाप–जोख करने वाले एव बन्दोबस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे जिन्हे पाली साहित्य मे रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्म जातक मे एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद मे जाकर खेतो को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी मे दो खूँटी बँधी रहती थी। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूँटी गाड देता था और खेत का स्वामी दूसरा सिरा पकडे हुये खेत मे जाता और खूँटी को यस्थास्थान गाडकर नाप कराता था।[1]

कारकर सज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करो को वसूल करने वाले थे। सूत्र ६/३/१० मे कुछ विशेष करो का उल्लेख है जो देश के पूर्वी भाग मे प्रचलित थे और विशेष अवसरो पर प्रजा जिन्हे देने के लिये बाध्य की जाती थी। पाली साहित्य मे भी इस नाम के अधिकारियो का उल्लेख है। पालि सामञ्अफलसुत्त मे एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गॉव मे आया हुआ देखकर समझता है कि या तो वह कारकारक था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिये आया था या वह रासिवडढक था जो खलिहान मे रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिये आया था।[2] कुरुधम्मजातक मे रासिवडढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर द्रोणामापक कहा गया है। राजा को उपज का छठॉ भाग राजग्राह्य अश के रुप मे दिया जाता था परवर्तीकाल तक भाग ही कहा जाता रहा है। उस भागसज्ञक अन्न को नापने वाला वर्तन भागद्रोण कहलाता था। पाणिनि ने किसी विशेष नाप के लिये षष्ठक शब्द का उल्लेख किया है।[3] यह शब्द राजग्राह्य षष्ठ भाग के लिये ही रुढ ज्ञात होता है। इसे केवल षाष्ठ और षष्ठ भी कहा जाता था जैसे यह कहा जाय कि हमे षष्ठ चाहिये तो उसका अभिप्राय उपज के छठे भाग से था।

---

१ जातक ३/२७६

२ इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकारको रासिवडढको – दीघनिकाय सामञ्अफलसुत्त २/३८

३ मानपार्श्वडगयो कन लुकौ च ५/३/५१ षष्ठको भाग मान चेत तद भवति

आयस्थान ४/४/७५

राष्ट्र या जनपद मे आय के स्रोतो को पाणिनि ने आयस्थान कहा है। ठगायस्थानेभ्य ४/३/७५ का उद्देश्य आयवाची शब्दो को नियमित करना है। जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती है वह उसी नाम से पुकारी जाती थी। वर्तमान मे भी राजकीय आय–व्यय के लेखे मे आयवाची शब्दो की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती थी। पतञ्जलि ने प्राचीन उदाहरणो का सकलन करते हुये शुल्कशाला या चुगी से प्राप्त होने वाली आय को शौल्कशालिक (शुल्कशालाया आगत) आपण या तहबाजारी से प्राप्त आय को आपणिक एव गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है।[1] पाणिनि ने स्वय भी शुल्क–शाला मे ली जाने वाली चुगी का उल्लेख किया है– तदस्मिन् वृद्ध्यार्थ लाभ शुलकोपदा दीयते ५/१/४७। चुगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पडता था जैसे– पञ्चक दशक शतिक साहस्र वह माल जिस पर ५, १० १०० १००० कार्षापण चुगी दी गई हो।

शौण्डिक ४/३/७६

पाणिनि ने शौण्डिक नामक आय का उल्लेख किया है– शुण्डिकादिभ्योऽण् ४/३/७६। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिल्य के अनुसार मद्य तैयार करने का अधिकार मौर्य शासन ने अपने लिये सुरक्षित कर रखा था जिसकी व्यवस्था सुराध्यक्ष करता था।[2] मद्य खीचने का भबका शुण्डिका कहलाता था क्योकि उसी मे हाथी के सूँड जैसी लम्बी नली लगी रहती थी। उसके नमूने तक्षशिला से प्राप्त हुये है।

दूत ४/३/८५ प्रतिष्कष ६/१/१५२

राजशासन मे दूत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद मे दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उनकी सज्ञा प्रसिद्ध होती थी।

१ भाष्य ४/२/१०४

२ सुराध्यक्ष सुराकिण्व व्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्व व्यवहारिभि कारयेत्– अर्थ २/२५

जैसे— कोसल जनपद का जो दूत मथुरा मे नियुक्त किया जाता था उसे कोसल जनपद मे माथुर के नाम से जाना जाता था (तद् गच्छति पथि दूतयो ४/३/८५)। प्रतिष्कष भी दूत की सज्ञा थी।[1] कौटिल्य ने इन्हे ही जडघारिक कहा है।[2] एक दो पाच दस योजन इत्यादि भिन्न–भिन्न दूरियो तक समाचार ले जाने वले धावन उन–उन नामो से प्रसिद्ध होते थे। पाणिनि ने एक योजन दौडने वाले धावन की यौजनिक कहा है— योजन गच्छति ५/१/७४। कात्यायन ने सौ योजन तक जाने वाले धावन के लिये यौजनशतिक इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है। धावन सस्था का मौर्य शासन मे महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले जाने वाले धावनो का उल्लेख किया है। उन्हे दस योजन की दूरी तक प्रति योजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिये वेतन उत्तरोत्तर बढता जाता था अर्थात् दो गुना हो जाता था।[3] शासन मे धावन सस्था का सगठन और देशो मे भी था।

दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक सन्देश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर एव दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है।[4] इनमे परिमितार्थ शासनहर से उच्चकोटि का था। परिमितार्थ दूत जो मौखिक सन्देश या मुख वचन ले जाता था उस सन्देश को वाचिक कहते थे— वाचो व्याहृतार्थायाम् ५/४/३५।[5] उस मौखिक सन्देश को सुनकर जो कर्म किया जाता उसके लिये कार्मण यह पारिभाषिक सज्ञा थी।[6]

---

१ वार्तापुरुष सहाय पुरोयायी प्रतिष्कर्ष इत्यभिधीयते – काशिका ६/१/१५२

२ अर्थशास्त्र२/१

३ **दशपणिको योजने दूत मध्यम ।**
दशोत्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशतादिति – अर्थ ५/३

४ अर्थशास्त्र १/१२

५ पूर्वमन्येन उक्तार्थत्वात् सन्देशवाग् व्याहृता इत्युच्यते – काशिका ५/४/३५

६ तद्युक्तात् कर्मणोऽण् वाचिक श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते
– काशिका ५/४/३६

पाणिनि ने कर्तृकर इस विशेष सज्ञा का उल्लेख किया है ३/२/२१। यह शब्द अस्पष्टार्थ और साहित्य मे अप्रयुक्त है। कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है– अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टार्थ । उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे और सम्भवत इसी से हिन्दी का बसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। महाभारत मे कृष्ण पाण्डवो की ओर से दुर्योधन की सभा मे अवसृष्टार्थ दूत बनाकर भेजे गये थे। ऐसा ज्ञात होता है कि कर्ता इसी प्रकार के राजप्रतिनिधि की सज्ञा थी और उसे नियुक्त करने वाला राजा या मुख्यामात्य कर्तृकर कहलाता था।

वैतनिक ४/४/१२

वेतनादिभ्यो जीवति ४/४/१२ सूत्र से वेतनभोगी सेवको को वैतनिक कहा गया है। कौटिल्य ने भृत्यभरणीय प्रकरण मे राजकर्मचारियो के वेतनो की लम्बी सूची दी है।[1] पतञ्जलि ने भी भृत्यभरणीय का उल्लेख किया है। वेतन देने का आधार मासिक था। भाष्य के अनुसार उसे भृतकमास कहते थे। कर्मनिष्ठ अधिकारियो को अर्थशास्त्र मे कर्मण्य कहा गया है।[2] पाणिनि ने भी कर्मण्य शब्द का उल्लेख किया है।

आक्रन्द ४/४/३८

आक्रन्द के यहॉ जाने वाले धावन या दूत को पाणिनि ने आक्रन्दिक कहा है ४/४/३८ ऐसा प्रतीत होता है कि काशिका मे इसका ठीक अर्थ नहीं दिया है क्योकि वहॉ रोने या विलाप की जगह को आक्रन्द कहा गया है जबकि आक्रन्द वस्तुत राजनीति का पारिभाषिक शब्द था। कौटिल्य ने इसका वास्तविक अर्थ देते हुये राज्य के पृष्ठभाग मे बसने वाले मित्र राजा को ही आक्रन्द बताया है।[3] इसी शब्द का मनुस्मृति ७/२०७ मे उल्लेख है

---

१ अर्थशास्त्र ५/३

२ अर्थशास्त्र ५/३ एरावता कर्मण्या भवन्ति।

३ पश्चात् पार्ष्णिग्राह आक्रन्द –अर्थशास्त्र ६/२
महाभारत शान्तिपर्व ६६/१६ ६६/३२

जिसकी व्याख्या टीकाकार कुल्लूक ने करते हुये लिखा है कि पीठ पीछे का शत्रु राजा पार्ष्णिग्राह और मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था। आक्रन्द की सहायता से पार्ष्णिग्राह के बल का उच्छेद या निराकरण किया जाता था। इस प्रकार अपने आक्रन्द राजा के पास जो दूत भेजा जाता था उसे आक्रन्दिक कहा जाता था।

सौराज्य ८/२/१४

शासन का आदर्श सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद मे राजा की प्राप्ति थी। राजा के अभाव मे जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी एव ऐसी स्थिति मे प्रजा मे मात्स्यन्याय की स्थिति होती एव सबल अबलो का भक्षण करते थे। अतएव राजनीति विशारदो का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिये राजा का होना अत्यावश्यक है। इस पृष्ठभूमि मे देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का द्योतन होता है इसे ही पाणिनि ने राजन्वान् सौराज्ये ८/२/१४ द्वारा अभिव्यक्त किया है। सौराज्य एव अराजक राज्य का भेद रामायण एव महाभारत मे भी स्पष्ट किया है।[1]

सेना

सेनानी २/४/२

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाडगानाम् २/४/२ मे सेना के विविध अगो का उल्लेख है। ये सेनाड्ग कहलाते थे और प्राचीनकाल से चार ही चले आते थे जैसे— हस्त्यारोह अश्वारोह रथी और पदाति।[2] दो सेनाडगो की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिये उनके नामो के जोडे एकवचनान्त प्रयुक्त होते थे जैसे— रथिकाश्वारोहम् रथिक—पादातम। पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिको का विशेष रुप से उल्लेख

१ रामायण अयोध्याकाण्ड अध्याय ६७ महाभारत शान्तिपर्व अ ६८
२ हस्त्यारोहा रथिन सादिनश्च पदातयश्च महा उद्योग ३०/२५

किया गया है– अपदातौ साल्वात ४/२/१३५ सूत्र। अश्वारोही सादि कहलाते थे ६/२/४१।[1] सॉडनी सवारो का विशेष रुप से उल्लेख किया गया है जिन्हे उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरो की मिली जुली टुकडी उष्ट्रवामि कहलाती थी उष्ट्रसादिवाम्यो ६/२/४०।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी थी रहते थे जो उसकी बहिरग व्यवस्था के लिये आवश्यक थे।

सैनिक ४/४/४५

सेना मे भर्ती होने वाले सिपाही सैनिक या सैन्य कहलाते थे। सेनाया वा सेना समवैति सैन्य सैनिक। घुडसवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति ४/१/८४ और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुयी सेना के साथ जाने वाला व्यक्ति सेनाचर ३/२/१७ कहलाता था।

युद्ध करने वालो का नामकरण उनके हथियारो के नाम से किया जाता था आज भी यही पद्धति है। प्रहरणम् ४/४/५६ सूत्र से इसी का प्रमाण मिलता है जैसे– आसिक (तलवार से लडने वाला) प्रासक (प्रास या भाले से लडने वाला) धानुष्क (धनुष–बाण से लडने वाला)। परश्वध या फरसे से लडने वाला पारश्वधिक ४/४/५८ और शक्ति युद्ध के सैनिक शात्तीक और लठैत या लाठी से युद्ध करने वाले लोगो के लिये याष्टीक शब्द था ४/४/५६। पतञ्जलि ने लिखा है कि हथियार चलाने वालो का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है जैसे– कुन्तान प्रवेशय यष्टी प्रवेशय।

यह उल्लेखनीय है कि शात्तीकी याष्टीकी नामक स्त्री सैनिको का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। इन शब्दो का निर्माण कात्यायन के एक विशेष वार्तिक से सम्भव होता है पाणिनि ने केवल पुल्लिग प्रयोग शात्तीक और याष्टीक का विधान किया है। इस सम्बन्ध मे इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि अर्थशास्त्र मे राजभवन मे स्त्री सैनिको की प्रथा को रक्षार्थ

१ सादिषद्यातियूनाम् – महाभारत भीष्म पर्व ६०/२०

नियुक्त किये जाने का उल्लेख है।[१] यह सम्भव है कि स्त्री सैनिको की प्रथा का आरम्भ मौर्य युग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिको की विशेष टुकडी कावचिक कहलाती थी ४/२/४१) समुचित आयु मे जो व्यक्ति सैन्य सेवा के योग्य हो जाता उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था। कवच के लिये वर्म शब्द भी था और कवच धारण करने के लिये सवर्मयति यह विशेष शब्द व्यवहार मे आने लगा था।

शस्त्रास्त्र ४/४/५७

आयुधो के लिये प्रहरण ४/४/५७ शब्द का प्रयोग किया गया है। सूत्रो मे अनेक प्रकार के आयुधो के नाम आये है जैसे– धुनष शक्ति परश्वध कासू (लम्बा बरछा) कासूतरी (छोटा बरछा) हेति (एक विशेष प्रकार का फेक कर मारने वाला अस्त्र) और असि या तलवार जिसे कौक्षेयक भी कहते थे।

हखामनि साम्राज्य के राजा ख्शयार्श ने जब यूनान पर चढाई की तो उसकी सेना मे गान्धार देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने लिखा है कि वे छोटे बरछो से युद्ध करने मे दक्ष थे।[२] पाणिनि स्वय भी गान्धार देश के थे सम्भवत वे जिस कासूतरी नामक प्रहरण का उल्लेख करते है वह यही था। पाणिनि ने धनुष वाची कार्मुक शब्द की व्युत्पत्ति कर्मन् शब्द से की है– कर्मण् उकञ् ५/१/१०३। सायण ने उसका सम्बन्ध कृमुक शब्द से माना है।[३] कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड के पेड की लकडी से बनाया जाता था।[४] पाणिनि ने भी ताल के धनुष का उल्लेख किया है– तालादिभ्योऽण् ४/३/१५२ अन्तर्गण सूत्र तालाद् धनुषि। पाणिनि ने बडे धुनष को महेष्वास कहा है। कौटिल्य ने धनुष का परिमाण ५ हाथ या ६ ५ फुट माना है।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष

---

१ स्त्री गणैर्धन्विभि – अर्थ १/२०

२ प्राचीन इतिहास दत्त मजूमदार रायचौधुरी पृ ५४

३ शतपथ ब्राह्मण ६/६/२/११ पर टीका–सायण

४ अर्थ २/१०

५ अर्थ १०/५

की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध वितस्ता (झेलम) के तट पर जो युद्ध लडा था उसमे उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धुनष से लडे थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे और एक हाथ से धनुष की मूँठ पकडकर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाये जाते थे और कैसा भी वर्म या कवच उनकी मार को न सह पाता था।

बाणो मे लोहे के पत्र लगे होते थे जिसके कारण बहुत ही पीडा होती थी— सपत्र निष्पत्रादतिव्यथने। प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मालवो के दुर्ग मे युद्ध करते हुये सिकन्दर की कमर मे ऐसा ही एक सपत्र बाण उसके कवच को छेदता हुआ घुस गया था जिसके कारण उसे मरणान्तक पीडा हुई थी।

आयुध या शस्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो के लिये आयुधीय यह विशेष शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था— आयुधेन जीवति ४/४/१४। पाणिनि ने इस प्रकार के आयुधीय लोगो के सघो का विशेष रूप से उल्लेख किया है जो आयुधजीवी कहलाते थे। कौटिल्य ने इन्हे ही शास्त्रोपजीवी कहा है। वाहीक प्रदेश एव उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे इस प्रकार के अनेक छोटे—बडे आयुधजीवी सघ थे।

पाणिनि ने प्रहरण क्रीडाओ का विशेष रूप से उल्लेख किया है ४/२/५७। इन क्रीडाओ मे धनुष या तलवार चलाने मे दक्ष नवयुवक अपना कौशल दिखाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि युद्धो का नामकरण दो प्रकार से किया जाता था एक तो उन योद्धाओ के नाम से जो उसमे भाग लेते थे जैसे— स्यान्दनाश्व (वह युद्ध जिसमे रथी और घुडसवारो ने भाग लिया हो) आहिमाल (वह युद्ध जिसमे अहिमाल नामक योद्धा लडे हो और दूसरे उस प्रयोजन के नाम से जिसके लिये युद्ध किया गया हो जैसे— सौभद्र (सुभद्रा के कारण हुआ युद्ध) गौरिमित्र (जो युद्ध गौरिमित्रा के कारण हुआ हो)। सग्रामे प्रयोजन योदधृम्य ४/२/५६।

परिष्कन्द ८/३/७५

प्राच्य भरत या कुरुपञ्चाल देश मे परिस्कन्द और अन्यत्र परिष्कन्द उच्चारण था– परिस्कन्द प्राच्य भरतेष ८/३/७५। महाभारत मे इन्हे चक्ररक्षक कहा गया है।[1] चतुर्थ शती ई पू की भारतीय सेना मे इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिको का उल्लेख यूनानी इतिहासकारो ने किया है। उनके अनुसार युद्ध मे सम्प्रयुक्त रथ मे चार घोडे जोते जाते थे और उनके साथ छह सैनिक रहते थे– दो सारथी दो ढाल लिये हुये ढलैत और दो धुनर्धारी जो रथ के दोनो ओर बाण छोडते हुये युद्ध करते थे।[2] इन छ मे दो ढलैतो को चक्ररक्ष या परिस्कन्द समझना चाहिये।

आयुधजीवी संघ

पाणिनि ने कुछ सघो को आयुधजीवी सघ कहा गया है।[3] इस प्रकरण मे लगभग चालीस सघो के नाम आये है। आयुध से जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था– आयुधाच्छ च ४/४/१४ आयुधेन जीवति। कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदो का उल्लेख किया है– आयुधीयप्राय और श्रेणीप्राय।[4]

सूत्रकार ने आयुधजीवी सघो का सूक्ष्मता से पर्यवलोकन किया था। उन्होने अपनी सामग्री को चार भागो मे बॉटा है १ वाहीक देश के आयुधजीवी सघ २ पर्वत या पहाडी इलाको का आयुधजीवी ३ पूग नामक आयुध जीवी सघ जो ग्रामीण नामक नेताओ की अध्यक्षता मे सगठित थे ४ व्रात जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा मे जीवन व्यतीत करते थे और जिनमे सघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी। वाहीक अर्थात् व्यास से सिन्ध तक के प्रदेश मे फैले हुये यौधेय क्षुद्रक मालव आदि गणराज्य अपेक्षाकृत उच्चकोटि की सघ प्रणाली के अनुयायी थी।

१ रथाना चक्र रक्षाश्च – महाभारत भीष्म पर्व १८/१६

२ मैक्रिण्डल सिकन्दर का आक्रमण पृष्ठ २६०

३ आयुधजीवीसघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात ५/३/११४

४ यदि वा पश्येत् आयुधीयप्राय श्रेणीप्रायो मे जनपद – अर्थ ७/१

पर्वतीय सघ ४/३/६१

उत्तर पश्चिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बडे पहाडी प्रदेश दिखाई पडते है। एक त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरा सिन्ध से कापिशी—कम्बोज तक का विस्तृत भू—भाग। ये पहाडी राज्य अधिकाश मे आयुधजीवी सघ शासन के मानने वाले थे— आयुधजीविभ्यश्छ पर्वते ४/३/६१। महाभारत मे गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। इसी सूत्र के परिप्रेक्ष्य मे काशिका मे पर्वतीय आयुधजीवियो के उदाहरणास्वरुप – हृदगोलीया जिनका मूलस्थान हृदगोल था सम्भवत जलालाबाद के दक्षिण हडडा नामक स्थान जिसे ह्वेनसाग ने हि—लो कहा अन्धकवर्तीया रोहितगिरीया जो कि रोहितगिरि या रोह मे फैले थे उल्लेखनीय है। रोह अफगानिस्तान का मध्ययुगीन नाम था। महाभारत मे लोहित प्रदेश के दस मण्डल राज्यो का उल्लेख है[1] जो कि अफगानिस्तान का पूर्वोत्तर और मध्यभाग था जो आजकल कोहिस्तान का क्षेत्र है। पुराणो मे जिन जनपदो को पर्वताश्रयी कहा है वे ही पाणिनि के पर्वतीय आयुधजीवी सघ थे। उनमे नीहार या नगरहार की भी गणना है जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था जहॉ हृद्गोल या हडडा का पहाडी प्रदेश है। हसमार्ग (हरदिस्तान के उत्तर हुञ्जा) नामक जनपद की गणना भी पर्वताश्रयी देशो मे थी अतएव ये कश्मीर और अफगानिस्तान के पहाडी प्रदेशो के निवासी थे जिन्हे पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। महाभारत मे प्रतीच्या पार्वतीया अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयो का उल्लेख है।[2] यही स्पष्टत उन्हे सघागिरिचारिण एव गिरिगह्वरवासिन कहा गया है[3] जबकि महाभारत मे ही अन्यत्र गिरिगह्वर नामक जन या कबीले का उल्लेख है[4] जिसका शब्दार्थ है पहाडो की गुफा या गारो मे रहने वाले कबायली लोग। महाभारत मे ही यह भी स्पष्टत उल्लिखित है

---

१ महाभारत सभा पर्व २४/१६

२ महाभारत उद्योगपर्व ३०/२४

३ महाभारत द्रोण पर्व ६३/४८

४ महाभारत भीष्म पर्व ६/६८

कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुयी महाबली जातिया ग्रामणी सज्ञक नेताओ की अध्यक्षता मे सगठित थी और ग्रामणीय कहलाती थी।[1]

इस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी मे उल्लिखित सघो के भौगोलिक विस्तार का त्रिविध परिचय प्राप्त होता है। (क) वाहीक के आयुधजीवी जो सिन्धु के पूर्व मे व्यास सतलज तक फैले हुये थे। इन्हीं के समीप पर्वतीय आयुधजीवियो का एक विशेष वर्ग त्रिगर्त या कुल्लू कागडा मे था जिन्हे पाणिनि ने त्रिगर्तषष्ठ ५/३/११६ नाम दिया है। (ख) पूग नामक आयुधजीवी जो सिन्धु के दोनो किनारो के प्रदेश मे ग्रामणी सविधान द्वारा सचालित थे ये वही थे जिन्हे आजकल कबायली कहा जाता है। (ग) पर्वतीय आयुधजीवी जिनमे अफगानिस्तान हिन्दुकुश और दरदिस्तान की अनेक पहाडी जातिया थीं। इनमे से बहुत से व्रात स्थिति मे जीवन व्यतीत करते थे। ये प्राचीन व्रात्य थे। इन तीनो मे जो सघ मध्यप्रदेश के आर्य सन्निवेशो के पडोसी थे वे सभ्यता और शासन की दृष्टि से अधिक उन्नत थे जो प्रत्यन्त निवासी थे वे उतनी ही पिछडी दशा मे थे।

श्रेणी २/१/५६

इस सूत्र मे पाणिनि ने उस प्रक्रिया की कुछ झाकी दी है जिसके अनुसार विभिन्न आयुधजीवी जातियॉ एक अवस्था को पीछे छोडकर उससे विकसित दूसरे रुप मे अपने को सगठित कर लेती थी जैसे—अश्रेणय श्रेणय कृता श्रेणिकृता इस प्रयोग की पृष्ठभूमि मे ऐसे जन थे जो पहले श्रेणि रुप मे सगठित नही थे किन्तु सघीय नवचेतना के प्रभाव मे आकर श्रेणि सविधान को अपना लेते थे। श्रेणियो के सगठन पर कुछ प्रकाश वर्तमान अग्रवाल जाति की अनुश्रुतियो से पडता है। कहा जाता है कि अगरौहे मे राजा अग्रसेन की सन्तति इनकी पूर्वज थी और वे क्षत्रिय से वैश्य वन गये। अगरोहे की खुदाई मे प्राप्त सिक्को मे अग्रोदक नगर के अग्र जनपद का उल्लेख है। अग्रजनपद की वार्ताशास्त्रोपजीवी श्रेणि या

---

१ **सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबला** – महाभारत सभापर्व ३२/६

अग्र श्रेणि ही कालान्तर मे अग्रसेन नामक मूल पुरुष मान ली गयी। किवदन्ती के अनुसार इनका सगठन कुलो पर आश्रित था जिनके हाथो मे राजसत्ता केन्द्रित थी। ये अष्टादश कुल थे। उनके शतसख्यक पुत्र पौत्र थे जिनकी गणना एक लाख कही जाती है। श्रेणि मे सम्मिलित होने वाले नये कुल को एक–एक रुपया देकर लक्षाधिपति कर देने की प्रथा थी। यह अनुश्रुति श्रेणि के अन्तर्गत कुलो की समान सामाजिक स्थिति को सूचित करती है। वार्ता (कृषि वाणिज्य पशुपालन) द्वारा जीविका निर्वाह इस श्रेणि की विशेषता थी जो अर्थ शास्त्र के वार्ताशास्त्रोपजीवी लक्षण से मिल जाती है।

पूग ५/२/५२

आयुधजीवी सघ की अपेक्षा कम एव व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित सघ पूग थे। कई जाति या कबीलो के लोगो का सघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे।[1] अधिकाश मे वे लूट–मार की अवस्था के ऊपर उठकर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के सघ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था मे थे। श्रेणी और पूग वाद मे चलकर आर्थिक सगठन भी बन गये थे किन्तु पाणिनि के काल मे दोनो ही राजनैतिक सस्थाए थी।

ग्रामणी ५/२/७८ एव ५/३/११२

५/३/११२ सूत्र मे पूगो का नामकरण दो प्रकार से सूचित किया है एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर जैसे–लाल झण्डे वाला पूग लोहध्वज कहलाता था पर देवदत्तका यज्ञदत्तका उस पूग का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरुप की सिद्धि स एषा ग्रामणी सूत्र से होती है जैसे–देवदत्त ग्रामणी एषा त इमे देवदत्तका। यज्ञदत्तका। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कवायली क्षेत्रो अद्यावधि पर्यन्त वर्तमान है। अनेक पठान कबीलो या खेलो के नाम अपने मूल पूर्वज या सस्थापक के नाम से होते थे जैसे इसाखेल यूसुफजई। यद्यपि अब ये

---

१ नाना जातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधाना सघा पूगा – काशिका ५/२/५२

सब मुसलमान हो गये है किन्तु नामकरण की वही पुरानी प्रथा है। देवदत्तका यज्ञदत्तका आदि ग्रामणी से बना हुआ नाम कुछ थोडे समय के लिये नही बल्कि पीढी दर पीढी चलता था।

प्रश्न उठता है कि स एषा ग्रामणी सूत्र मे ग्रामणी का अर्थ गॉव का मुखिया क्यो न लिया जाय इसका एक उत्तर है कि गॉव के मुखिया के नाम से ग्रामवासियो के नामकरण की प्रथा लोक मे कहीं नही है। दूसरा प्रमाण पालि साहित्य से प्राप्त होता है जिसके अनुसार ग्रामणी दो प्रकार के होते थे एक ग्राम–ग्रामणी दूसरे पूग ग्रामणी।[1] पाणिनि के सूत्र मे ग्राम ग्रामणी नही पूग ग्रामणी से अभिप्राय है।

व्रात ५/३/११३

व्रात उन लडाकू जातियो की सज्ञा थी जिनका आर्यो के साथ सघर्ष हुआ था और जो लूट–मार करके जीवन निर्वाह करती थीं। ऋग्वेद मे आर्य योद्धाओ को व्रातसाह कहा गया है।[2] पाणिनि ने व्रात नामक सघो के नामकरण के विषय मे नियम दिये है– व्रातच्फोञेरस्त्रियाम् ५/३/११३। काशिका मे कपोतपाका और व्रीहिमता उदाहरण है। महाभारत मे दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियो को व्रात कहा गया है।[3] व्रातेन जीवति व्रातीन यह विशेष शब्द सिद्ध किया गया है ५/२/२१। वहॉ व्रात का अर्थ

---

१ यस्स कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पञ्च धम्मा सविज्जन्ति
यदि वा रञ्ञो खत्तियस्य युद्धाभिसित्तस्स
यदि वा रटिठकस्य पेत्तनिकस्स
यदि वा सेनाय सेनापतिकस्स
यदि वा गामगामणिकस्स यदि वा पूगगामणिकस्स
ये वा न कुलेसु पच्चेकाधिपच्च कारेन्ति – अगुत्तर निकाय।
पालिटेक्स्ट सोसायटी सस्करण भाग–३ पृष्ठ ७६ जायसवाल हिन्दू राजतत्र

२ ऋग्वेद ६/७५/६

३ महाभारत द्रोणपर्व ६३/४४

उत्सेध या लूटमार है।[४] भाष्य के अनुसार व्रातीना वही थे जिन्हे श्रोतसूत्रो मे व्रात्य कहा है। लाटयायन श्रोत सूत्र मे व्रात्यो के लिये व्रातीन शब्द प्रयुक्त भी हुआ है।[५] पाणिनि के युग से लेकर आज तक ये उत्सेधजीवी रही है।[६] ताण्डय ब्राह्मण मे सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्यसमुदाय किया है।[७] वस्तुत व्रात और व्रात्य एक ही थे।

📖📖📖📖📖

४ भाष्य मे लिखा है–
नाना जातीया अनियत वृत्तय उत्सेधजीविन सघा व्राता ।
तेषा कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीन ।। –भाष्य ५/२/२१

५ लाटयायन श्रौतसूत्र ८/५/१

६ व्रात्या प्रसेधमाना यान्ति अर्थात व्रात्य लोक का उत्पीडन या लूटमार करके रहते है–
टीका– लोक आसेधन्त त्रासयन्त प्रशयन्त – लाटयायन ८/६/७

७ ताण्डय ब्राह्मण १७/१/५ की सायण टीका

तृतीय-सोपान

तृतीय-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित समाज

भाषा और लोक मे सदा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। लोक जीवन के विविध अगो से सम्बन्धित शब्द भाषा मे उत्पन्न और प्रयुक्त होते है शब्द भूतकालीन सस्थाओ के प्रतीक बनकर उनके स्मारक की भॉति भाषा मे रह जाते है। महर्षि पाणिनि ने अपने समाकालीन सामाजिक जीवन का शब्दो के रुप मे सूक्ष्म अध्ययन किया था और अपने शब्द शास्त्र मे उन्हे स्थान दिया।

सामाजिक जीवन शीर्षक के अन्तर्गत इस अध्याय मे अष्टा-ध्यायी की सामग्री के आधार पर वर्ण और जातिया आश्रम विवाह स्त्रिया सामाजिक सस्थाए अन्न पान वेशभूषा वासगृह आदि पर अध्ययन किया गया है।

वर्ण एवं जाति

पाश्चात्य जगत की सस्कृति मे धर्म और राज्य के बीच प्राय सघर्ष होता रहा भारत मे प्राचीन काल मे ही ऐसे शाश्वत मूल्यो का निर्धारण किया गया जिनके आधार पर भौतिक और आध्यत्मिक उपलब्धिया समान रुप से सुलभ हो सके। वर्ण व्यवस्था इन शाश्वत मूल्यो मे से एक थी। सामान्य तौर पर वर्ण व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का वर्गीकरण किया जाता है और यह समझा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा प्राचीन भारत मे समाज को चार वर्णो मे विभाजित किया गया था किसी सीमा तक ऐसा समझा जाना

उचित ही है परन्तु सैद्धान्तिक रुप से वर्ण व्यवस्था प्राचीन भारतीय समाज की आधार शिला थी। प्राचीन काल में हिन्दू समाज में सहयोग और सहकारिता की भावना प्रबल रुप से कार्यरत थी। इस भावना के अनुरुप जन्म से ही व्यक्ति के क्रिया–कलापों तथा उसकी सामाजिक स्थिति का निर्णय हो जाता था। इस व्यवस्था को मानव की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही इसका आरम्भ किया गया होगा। इसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था एव संगठन को स्थायित्व प्रदान करना था। इससे समाज की उन्नति हुई। प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था ने आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ कर समाज को समृद्ध किया। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था, साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा हुई तथा उसके उत्थान में भी बड़ा योग मिला। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी यद्यपि व्याकरण का ग्रन्थ है फिर भी तत्कालीन समाज में प्रचलित सामाजिक जीवन का असर इस पर भी दिखाई पड़ता है। पाणिनि ने जिन शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है उन शब्दों का अध्ययन ही इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

जाति २/१/६३

वैदिक भाषा का वर्ण शब्द व्यवहार में था किन्तु इस समय तक जाति शब्द प्रचलित हो चुका था। महर्षि के व्याकरण के अनुसार गोत्रों और चरणों की भी पृथक् जातियां होने लगी थीं। ''कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने'' सूत्र में जाति के विषय में पूछ–ताछ करने के लिए नियम बताया गया है। यहाँ जातिशब्द से गोत्र और चरण दोनों अभिप्रेत है। कतरकठः (इन दोनों में कौन कठ है ?), कतमकठः (इनमें कौन कठ है ?) ये दोनों उदाहरण चरण सम्बन्धी पूछताछ विषयक होने पर भी जाति परिप्रश्न के उदाहरण हैं।

वस्तुतः पाणिनि के काल में गोत्र और चरणों के भेदों के अनुसार अनेकों जातियां विकसित हो रही थी। गोत्रों के प्रकरण में जो

लगभग एक सहस्र नाम है उनका सामाजिक स्वरुप अलग—अलग जातियो के रुप मे सगठित हो गया था। महर्षि के गोत्र और गोत्रावयव तत्कालीन समाज की सच्चाई थी। आज भी पीढी दर पीढी इनमे से बहुत से नाम प्रचलित है।

शूद्र २/४/१०

महर्षि ने दो प्रकार के शूद्रो का उल्लेख किया है—एक अनिरवसित जो हिन्दू समाज के अग थे और दूसरे निरवसित।

२/४/१० सूत्र पर पतजलि का विशद् भाष्य शूद्रो की शुग कालीन स्थिति का परिचायक है। अनिरवसित शूद्र से तात्पर्य आर्यावर्त की सीमान्तर्गत रहने वाले शूद्रो से है। इसके विपरीत पतञ्जलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रो मे कुछ विदेशियो का उल्लेख किया है जैसे—शक यवन। पतजलि के अनुसार मृतप चाण्डाल आदि निम्न शूद्र जातिया प्राय ग्राम घोष नगर आदि आर्य बस्तियो मे घर बनाकर रहती थी। पर जहा गाव और शहर बहुत बडे थे वहा उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लो मे रहने लगे थे ये समाज मे सबसे निम्न कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर बढई लोहार बुनकर धोबी तथा अयस्कार तन्तुवाय रजक आदि जातियो की गणना भी शूद्रो मे थी। वे यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यो मे भाग ले सकते थे परन्तु भोजन के बर्तनो मे उनके सथ छुआ छूत बरती जाती थी।

वैश्य ३/१/१०३

पाणिनि ने वैश्य के लिये अर्य पद का उल्लेख किया है (अर्य स्वामि वैश्ययो)। गृहस्थ के लिये गृहपति शब्द आया है। मौर्य—शुग काल मे समृद्ध वैश्य व्यापारियो के लिये गृहपति शब्द प्रयुक्त होने लगा था जो बौद्ध—प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे।

क्षत्रिय ४/१/१६८

पाणिनि र्नि इस स्थिति को स्वीकार किया है कि अनेक जनपदो के नाम वही थे ओ उसमे रहने वाले क्षत्रियो। पचाल क्षत्रियो के रहने के कारण ही आरम्भ मे जनपद का नाम भी पचाल पडा था। बाद मे जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहा के प्रशासक क्षत्रियो के नाम जिन्हे अष्टाध्यायी मे जनपदिन् कहा गया है लोक प्रसिद्ध हुए। पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बचे है यथा—यौधेयो (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहियावार मालवो का मालवा आदि। तत्कालीन सघो और जनपदो मे क्षत्रियो के अतिरिक्त और वर्णो के लोग भी थे जैसे—मालव जनपद के क्षत्रिय तो मालव किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रियेतर को मालव्य कहा जाता था। 'मालवा इस बहुवचनान्त रुप मे सबका अन्तर्भाव समझा जाता था।

ब्रह्मचर्य की अवधि ५।१।९४

तदस्य ब्रह्मचर्यम्। सूत्र मे ब्रह्मचारियो के नामकरण की विधि बतायी गई है। जितने दिन के लिये छात्र ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पडता था। सूत्र के उदाहरणो से ज्ञात होता है कि पन्द्रह दिन[१] एक महीना[२] या एक वर्ष[३] ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुत परिमित अवधि के लिए चरणो मे प्रविष्ट होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियो की यह सज्ञाए थी।

वर्तमान कालीन विश्वविद्यालयो के अल्पकालिक व्याख्यान प्रबन्ध के ढग पर वैदिक चरणो मे भी अध्ययन की सुविधाए मिलने लगी थी तभी मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व मे आये होगे। सभी प्रकार के छोटे बडे अध्ययन और ग्रन्थ—पारायणो

---

१ अर्धमासिक ब्रह्मचारी

२ मासिक

३ सावत्सरिक

मे भाग लेने की विद्यार्थियो को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष की विधि जानने की इच्छा से विशेष साम–गान कण्ठ करने के लिये या कुछ ऋचाओ का पारायण सीखने के लिये एक पखवाडे या एक महीने जैसे थोडे समय के लिये भी छात्र अर्धमासिक या 'मासिक ब्रह्मचारी बन सकते थे।

अडतालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वाले छात्र अष्टाचत्वा–रिंशक या अष्टाचत्वारिंशी कहलाते थे–कात्यायन। गृह्य सूत्रो से ज्ञात होता है कि गुरुकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अडतालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत आदित्य व्रत कहलाता था जिसको धारण करने वाले ब्रह्मचारियो की सज्ञा आदित्यव्रतिक थी। आदित्य साम पर्यन्त अध्ययन का ब्रत आदित्य व्रत कहा जाता था।[1]

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित काल के लिये शिक्षा की सुविधा का उल्लेख वेदान्त मे भी आता है जहॉ जिज्ञासु कुछ समय के लिए आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते है। विशेष उच्च शिक्षण के लिए और बढी हुई ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिए इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

ब्राह्मण ५/१/१२४

पाणिनि ने ब्रह्मन और ब्राह्मण दोनो शब्दो को पर्याय रुप मे प्रयुक्त किया है। ब्रह्मन के लिए हितकारी इस अर्थ मे ब्राह्मण पद बनता था –ब्रह्मणे हितम्। महर्षि पतजलि ने इसका अर्थ ब्राह्मणेभ्य हितम् किया है। उनका कहना है ब्रह्मन् एव ब्राह्मण पर्यायवाची है किन्तु यत प्रत्यय ब्रह्मन् शब्द से ही होता है ब्राह्मण से नही। पाणिनि काल मे ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मणोचित आध्यात्मिक गुण–सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आधारित जाति के लिए। ब्राह्मण

---

१ गोभिल गृह्यसूत्र ३/१/२८–३०

के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिये ब्राह्मण्य पद सिद्ध किया गया है। (गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च ५/१/१२४) नाम मात्र के आचार हीन ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण छान्दोग्य उपनिषद् श्रौत सूत्र एव गृह्यसूत्रो मे ब्रह्मबन्धु शब्द पाया जाता है। पाणिनि के समय मे केवल जाति का अभिमान करने वाले कर्म–विहीन ब्राह्मणो के लिए 'ब्रह्मबन्ध की तरह ब्राह्मणजतीय यह नया विशेषण प्रचलित हो गया था। ५/४/६ जात्यन्ताच्छ बन्धुनि सूत्र मे 'बन्धुनि पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ अर्थात कुत्सापरक व्यग्य का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ। नाम मात्र के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए ब्राह्मण जातीय क्षत्रिय जातीय वैश्य जातीय पद व्यवहार मे आते थे। महर्षि पाणिनि ने कुमहद्भ्या–मन्यतरस्याम् ५/४/१०५ सूत्र के अनुसार स्वधर्म मे निरत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्म और आचार हीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्म कहलाता था। महाब्रह्म समाज मे अत्यन्त प्रतिष्ठासूचक पद माना जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म और शील परायण ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्म था जिसके लिये व्यक्ति विशेष योग्यपात्र समझे जाते थे। सभवत महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक मे महाब्रह्मा और काशिका मे देवब्रह्मा कहा गया है।

व्रात ५/२/२१

लूट–मार कर जीविका चलाने वाले जगली हालत मे आर्यावर्त की सीमाओ पर प्राचीन काल से बसे उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय मे व्रात कहलाते थे। ये विशेष करके भरत के उत्तर पश्चिम कबायली इलाको मे थे। ये लोग हिन्दू समाज को ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य व्यवस्था सें बाहर ही माने जाते थे। चातुर्वर्ण्य सगठन के अनुसार व्रात्यो की स्थिति ब्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् जानी जाती थी।

ब्रह्मचारी ५/२/१३४ ६/३/८६

ब्रह्मचारी के लिये वर्णी यह नई सज्ञा प्रयोग मे आती थी जो कि सहिता और ब्राह्मण साहित्य मे अविदित थी। काशिका के अनुसर तीन उच्च वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे[1]।

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण–सस्था मे अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इसी कारण से वे आपस मे सब्रह्मचारी कहलाते थे।[2] उदाहरणार्थ कठ चरण मे पढने वाले सभी छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे। वर्तमान समय मे जिस प्रकार एक विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षा–सस्था का नाम लेकर समान सम्बन्ध प्रकट करते है कुछ इसी प्रकार की यह प्रथा थी। एक ही गुरु के शिष्य होने के कारण जो विद्या सम्बन्ध बनता था उसका जीवन मे वस्तविक उपयोग और महत्त्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म समीप लाकर उसका उपनयन करते थे। जिसके फलस्वरुप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को सयुक्त करने वाले एक प्रकार के नये सम्बन्ध का जन्म होता था। महर्षि पाणिनि ने इसे ही आचार्यकरण १/३/३६ कहा है। इसी आचार्यकरण की व्याख्या काशिकाकार ने भी अपने ग्रन्थ मे किया है।[3] इसके लिये 'उपनयते यह विशेष क्रियापद प्रयुक्त होता था। उप पूर्वक नी धातु का इस विशेष अर्थ मे प्रयोग अथर्ववेद के समय से ही आरम्भ हो गया था।[4]

छात्र दो प्रकार के थे–माणव और अन्तेवासी इसका उल्लेख महर्षि पाणिनि ने ६/२/६६ सूत्र मे किया है। पाणिनि ने माणवो को दण्ड–माणव भी कहा है। ब्रह्मचारी पलाश दण्ड या आषाढ और अजिन रखते थे।

१ ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यते–काशिका ५/२/१३४

२ चरणे ब्रह्मचारिणि ६/३/८६

३ आचार्यकरणमाचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीप प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्य सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मान आचार्यीकुर्वन माणवकमात्मसमीप प्रापयतीत्यर्थ । काशिका १/३/३६

४ आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम–अथर्व ११/५/३)

स्नातक ८/३/८६

अध्ययन समाप्त करने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। स्नात वेद समाप्तौ गणसूत्र ५/४/२६ के अनुसार वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित काल समझा जाता था। विद्या–विशेष मे अति प्रवीण स्नातक निष्णात कहे जाते थे। पीछे चलकर यह शब्द कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा निनदीभ्या स्नाते कौशले ८/३/८६। स्रग्वी पद भी सम्भवत स्नातक के लिए ही प्रयुक्त होता था। स्रक ब्रह्मचर्य–व्रत–समाप्ति का विशेष चिन्ह थी। अकाल मे व्रत छोडकर गृहस्थ बन जाने वाले छात्रो को व्यग्य से खट्वारुढ कहा जाता था २।१।२६ चूँकि ब्रह्मचारी को खाट का प्रयोग करना निषिद्ध था इसीलिये खटवारुढ पद निन्दार्थक माना गया।

राजन्य ५/३/११४

पाणिनि ने राजन्य के दो अर्थ बताये है एक क्षत्रिय वाचक और दूसरा अभिषिक्त वश क्षत्रियो के लिये। केवल वे क्षत्रिय कुल राजन्य कहे जाते थे जो सघ रुप मे शासन मे भाग लेने के अधिकारी थे इसके लिये आचार्य ने राजन्य बहुवचनद्वन्देऽन्धक वृष्णिषु ६/२/३४ सूत्र का उल्लेख किया है। राजन्यक का हिन्दी रुप राणा है।

गृहपति ४/४/९०

विवाह करके गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिये प्राचीन सज्ञा गृहपति थी। विवाह के समय प्रज्वलित हुई अग्नि को गार्हपत्य कहा जाता था क्योकि गृहपति उससे सयुक्त रहता था। अग्नि–साक्षिक विवाह से आरम्भ होने वाले गृहस्थ जीवन मे गृहपति लोग जिस अग्नि को गृहयज्ञो के द्वारा निरन्तर प्रज्वलित रखते थे उसी के लिये गृहपतिना सयुक्त यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ मे पति के साथ

विधिपूर्व सयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की सज्ञा 'पत्नी होती थी इस तरह का उल्लेख पाणिनि ने पत्युर्नो यज्ञ सयोगे ४/१/३३ सूत्र मे किया है। पति–पत्नी दोनो मिलकर वैवाहिक अग्नि की परिचर्या करते थे। पुत्र–पौत्रो से सुखी सम्पन्न पति–पत्नी सुप्रज बहुप्रज और पुत्र पौत्रीण कहलाते थे।

घर का बडा–बूढा वृद्ध या वश्य कहलाता था इसके लिये आचार्य ने १/२/६५ एव ४/१/१६३ सूत्र की रचना की है। कुटुम्ब के वृद्ध और युवा सदस्यो के नामो मे भिन्न–भिन्न प्रत्ययो का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के वृद्ध या वश्य की सज्ञा गार्ग्य और उसी कुटुम्ब के युवा सदस्यो की गार्ग्यायण होती थी। इन दोनो शब्दो का समाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी जाति की पचायत मे वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बडा–बूढा उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन–काल मे उस कुल की पगडी गार्ग्य के सिर ही बॉधी जाती थी और वही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सगा बडा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था कुल के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुम्बो के प्रतनिधि एकत्र होकर गार्ग्यायण के सिर पगडी बॉधकर स्वीकार करते थे और उस दिन से वह कुटम्ब के लिये गार्ग्य कहलाने लगता था।

पिता के बाद पुत्र उसके स्थान पर अपने परिवार का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था किन्तु यदि कोई बडा–बूढा दादा ताऊ या चाचा उस कुटुम्ब मे जीवित हो तो अपने पिता की जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह ताऊ चाचा आदि की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता रहता था ४/१/१६५। जाति पचायत मे प्राय बडा–बूढा ताऊ चाचा ही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता रहता था। बडे भाई के जीवित रहते हुए सभी छोटे भाई युवा कहलाते थे। बडा भाई गार्ग्य और छोटे भाई गार्ग्यायण सज्ञा के अधिकारी थे। –भ्रातरि तु ज्यायसि ४/१/१६४।

दासी भार ६/२/४२

काशिका ने इसका अर्थ किया है दास्या भार अर्थात् वह भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पडे। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूतिकाल के लिये अर्थव्यवस्था किये बिना जो बेचे या गिरवी रखे उसे दण्ड दिया जाय[1]। इस प्रकार दासी के लिये अनिवार्य रुप से करने योग्य आर्थिक प्रबन्ध दासीभार पद से अभिप्रेत है।

आर्य ब्रह्मण कुमार ६/२/५८

इस सूत्र मे आर्य ब्राह्मण और आर्यकुमार ये शब्द आये है। आर्य ब्राह्मण पद मन्त्रिपरिषद् के प्रधानमन्त्री के लिये एव आर्य कुमार पद युवराज के लिये प्रयुक्त होता था। 'ब्राह्मणमिश्रो राजा पद मे राजा और उसके प्रधान सहायक को जो ब्राह्मण मन्त्री होता था उल्लेख है (मिश्रो चानुपसर्गमसन्धौ)। यही आर्य ब्राह्मण कहलाता था।

स्त्री एवं विवाह

स्वकरण १/३/५६

पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन १/२/१६ शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या स्वकरण शब्द से इस सूत्र मे की गई है। पति के द्वारा पत्नी का पाणि ग्रहण किये जाने पर विवाह सस्कार सम्पन्न समझा जाता था। इसके लिये पाणिनि ने हस्तेकृत्य एव पाणौकृत्य इन दो शब्दो का उल्लेख किया है जो विवाह के पर्यायवाची थे (नित्य हस्ते पाणावुपयमने १/४/७७)। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति–पत्नी को अपनी बनाता था जिससे 'स्वकरण पद का विवाह के

---

१ दासी वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्या विक्रयाधान नयत पूर्व साहसदण्ड –अर्थशास्त्र ३/१३

अर्थ मे प्रयोग हुआ। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियो के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था। विवाह के सम्पन्न होने मे वर के द्वारा वधू के पाणिग्रहण का महत्त्व 'पाणि गृहीती शब्द से प्रकट होता है जो कि वार्तिककार कात्यायन के अनुसार विधिवत परिणीता पत्नी की सज्ञा थी।[1] इसके विपरीत पाणिगृहीता शब्द विधि वाह्य परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था।

विवाह के फलस्वरुप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिन्दू धर्मशास्त्र का सुविदित नियम था। कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से स्त्री का पति से पृथक् कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र मे मान्य नहीं था किन्तु दोनो का अभिन्न या एकीकृत तन्त्र समझा जाता था।[2] विवाह के समय पिता कन्या के सम्बन्ध मे अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री का स्वकरण करता है अर्थात जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता था।

कुमारी- कौमारापूर्ववचने ४/२/१३

नारी जीवन के अनेक क्षेत्रो का अष्टाध्यायी से परिचय मिलता है। कुमारी पत्नी माता छात्रा आचार्या आदि दशाओ मे उसके जीवन की कुछ झॉकी तत्कालीन भाषा के शब्दो मे आ गई है। आयु के प्रथम भाग मे वयसि प्रथमे ४/१/२० वह कुमारी किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रिया आजीवन अविवाहित रह जाती थी वे बडी आयु होने पर भी कुमारी ही कहलाती थी। (कुमार्या वयसि ६/२/६५) जैसे—वृद्ध कुमारी जरत्कुमारी। कन्यावस्था मे ही अवैध सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह कानीन' कहलाता (कन्याया कानीन च ४।१।११६) मनु ने बारह प्रकार के पुत्रो मे कानीन को भी

---

१ पाणिगृहीत्यादीना विशेषे यस्या हि यथा कथञ्चित पाणिगृह्यते। वा० ४/१/५२–२०

२ मनु० ६/१७२

माना है। भाष्यकार पतञजलि ने आपत्ति की है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा और पुत्र हो गया तो कन्या कैसी ? कन्या और पुत्र ये दोनो आपस मे विरुद्ध है। इसका समाधान यह है कि विवाह सम्बन्ध मे बँध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर सम्बन्ध होने पर स्त्री का कन्या कहा जाना बन्द हो जाता है किन्तु समाज मे जो कन्या विवाह से पहले ही पुरुष से शरीर सम्बन्ध स्थापित कर लेती थी उसके लिये भी कन्या शब्द लोक मे प्रचलित रहा। जिसे लोग कन्या कहते या मानते रहे वही कन्या है।[1]

पत्नी ४/१/३३

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या वर्या कहलाती थी। वर्या से तात्पर्य उस कन्या से है जो बेरोक–टोक बरी जा सके। वधूजनी और उसकी या वर की भी सखिया जन्या कहलाती थीं।[2] नव विवाहिता वधू के लिये लोक और वेद दोनो भाषाओ मे सुमगली शब्द चलता था। विवाहित स्त्री के लिये जाया ३/२/५२ पत्नी ४/१/३३ एव जानि शब्द प्रयुक्त होते थे। युवती स्त्री और वृद्धा स्त्री का पति युवजानि और वृद्धजानि कहलाता था। पतिवत्नी जिसका पति जीवित हो (जीवत्पति ४/१/३२) इस विशेष पद से यह ध्वनित होता है कि पति के जीवनकाल मे पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। सपत्नी शब्द बहुविवाह की प्रथा का सूचक है। ऐसी बडी बहिन का पति जिसका विवाह छोटी बहिन के बाद हो दिधिषू पति कहलाता था ६/२/१९।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्रमातुर ४।१।११५ और रुपवती माता का कल्याणिनेय ४/१/१२६ कहलाता था। पिता का गोत्र न ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसर पुत्र का नाम पडता था

---

१ भाष्य ४/१/११६

२ जनीं वहति जन्या जामातुर्वयस्या सा हि व्हिारादिषु जामातृ समीप प्रापयति। जनी वधूरुच्यते। –काशिका ४/४/८२

किन्तु इस प्रकार के नाम से कुत्सा सूचित होती थी उदाहरणार्थ– गर्ग गोत्र मे उत्पन्न गार्गी का पुत्र गार्गिक हो सकता था किन्तु वह गौरवास्पद न था।

गोत्र जनपद और वैदिक चरणो के नाम से स्त्रियो के नामकरण की प्रथा का अष्टाध्यायी मे उल्लेख मिलता है। इससे स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का सकेत मिलता है। एक जनपद मे उत्पन्न राजकुमारिया या स्त्रिया विवाह के बाद जब दूसरे जनपद मे जाती थी तब पतिगृह मे वे अपने जनपदीय नाम से भी पुकारी जाती थी इसका उदाहरण अद्यावधि मिलता है।

अष्टाध्यायी मे स्त्रियो के प्रसाधन और अलकरण की सामग्री का भी उल्लेख मिलता है यथा–माथे पर पहनने की ललाटिका ४/३/६५, कानो की कर्णिका ४/३/६५, गले का ग्रैवेयक। केश–सस्कार को 'केशवेश और विशेष प्रकार के केश विन्यास को 'कबरी कहा गया है।

अन्नपान

अन्नपान के सम्बन्ध मे अष्टाध्यायी मे महत्त्वपूर्ण समग्री है भारतीय अन्नपान का इतिहास लिखा जाय तो पाणिनीय सामग्री उपयोगी होगी।

अभिषव ३/१/१२६

आसुति या अभिषव के स्थान मे मद्य बनाने के लिये विविध ओषधियो को पहले उठाया जाता था। जब वे पूरी तरह उठ आतीं तब उन्हे आसाव्य कहते थे अर्थात् जो ऐसी स्थिति मे आ गई हो कि उनका अभिषव या चुवाना अत्यन्त् आवश्यक हो। चुवाने के बाद जो फोक (कल्क) बचता था उसे विनीय (फेकने योग्य) कहते थे ३/१/११७।

मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने १/४/६६ मे उल्लेख किया है। कणे हत्यपिवति श्रद्धा प्रतिघाते जिसका अर्थ है तलछट तक पी गया फिर भी मन नहीं भरा।

सस्कृत ४/२/१६

सस्कृत भक्षा मे सस्कृत का अर्थ है उत्कर्ष का आधान। काशिका मे उल्लेख आया है सत उत्कर्षाधान सस्कार। इसका लक्ष्य पाक विधि या बनाने की प्रक्रिया की ओर विशेष है जिससे पदार्थो मे विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो। सस्कार के बाद फिर उस पदार्थ को तुरन्त उसी दशा मे खाया जा सकता है। सस्कृत हि नाम तद् भवति यत्–तत् एवापकृष्याभ्यपह्रियते –भाष्य ४/३/२५ वार्तिक –१। जैसा दार्षदा सक्तव अर्थात चक्की मे पिसे हुए सत्तू। भोजन के इस प्रकार सस्कृत होने का दूसरा उदाहरण शूलोखाद्यत् सूत्र मे है।

सस्कृत भक्षा सूत्र पर काशिका मे तीन उदाहरण है। (क) भ्राष्ट्रा अपूपा (ख) कालशा अपूपा (ग) कौम्भा अपूपा। इनसे अपूप बनाने की विशेष प्रक्रिया ही अभिप्रेत है। भ्राष्ट्र अपूप पूर्वी जनपदो मे आज भी बनाये जाते है।

पाणिनि ने दही मटठे और दूध का भी इस प्रकरण मे उल्लेख किया है। दही मे बनाया हुआ खाद्य पदार्थ दाधिक (दध्नष्ठक ४/२/१८) मटठे मे बनाया हुआ औदश्वित या औदश्वितक (उदश्वितोऽन्यतरस्याम् ४/२/१६) और दूध मे बनायी हुई दूधिया लपसी क्षैरेयी यवागू (क्षीराडढञ् ४/२/२०)। पाणिनि ने भोजन की प्रक्रियाओ का बारीकी से विचार करते हुए सस्कृतम् ४/४/३ सस्कृत भक्षा से अलग बनाया है। दध्ना सस्कृतम् दधनि सस्कृतम्। दोनो अर्थो मे एक ही शब्दरुप दाधिकम् ही बनेगा किन्तु अर्थ मे और बनाने की प्रक्रिया मे भेद है। जहॉ दही के मिलाने से स्वाद कुछ अच्छा हो जाय वहा दध्ना सस्कृतम् ठीक है परन्तु जहा दही मे ही मुख्य रुप से कोई चीज बनायी जाय वहा दधनि सस्कृतम ठीक है।

यवागू ४/२/१३६

ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन था। सूत्रो के उदाहरणो मे अनेको बार यवागू का उल्लेख आता है। साल्व जनपद मे यवागू लागो का विशेष प्रिय भोजन था पाणिनि ने उसे साल्विका यवागू कहा है। साल्व जनपद की पहचान देश के उस भू–भाग से की गई है जो अलवर से वीकानेर तक फैला हुआ है। अद्यापि वहॉ के लोगो मे लपसी खाने का रिवाज है। इसे यहा के लोग राबडी कहते है। वहा पर दो प्रकार की यवागू बनती है। एक पतली जिसे लपसी कहते है और जो पेय होती है। धनी लोगो के घरो मे यह मीठी बनायी जाती है। दूसरी कुछ गाढी 'राबडी कहलाती है। नमकीन राबडी साधारण लोगो का भोजन है।

नीवार ४/३/४८ (नौ वृ धान्ये)

जगल मे स्वय उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक मे इसे ही पसही (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते हैं।

पाणिनि ने मद्रदेश की देविका नदी का उल्लेख किया है ७/३/१ उसके प्रसग मे इष्टरुप की सिद्धि करते हुए पतञ्जलि ने दाविकाकूल शालि अर्थात देविका के किनारे की रौसली मिटटी मे उत्पन्न होने वाले चावल का उल्लेख किया है।

पयस्य या गव्य ४/३/१६०

दूध से बने हुए खाद्य पदार्थो को गव्य या पयस्य कहा गया है। दूध दही मटठा इनका सूत्रो मे उल्लेख है। सूत्र ७/२/१८ मे जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फाण्ट कहा जाता है।[१] पहले

१ शतपथ ब्राह्मण ३/१/८

दिन के दूध का दही जमाकर अगले दिन प्रात काल उसे मथकर जो मक्खन निकाला जाता था उसके लिये हैयगवीन (हैयगवीन सज्ञायाम ५/२/२३) यह नया शब्द प्रयोग मे चल पडा था जो कि प्राचीन वैदिक साहित्य मे नहीं था।

ससृष्ट ४/४/२२

ससृष्टे आदि सूत्रो मे भोजन मे किसी दूसरी वस्तु को ससृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और ऐच्छिक से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी वस्तु मे दही डाल दे तो वही वस्तु दाधिक कहलायेगी। मिश्रीकरण प्रक्रिया मे दोनो पदार्थ समान महत्त्व रखते हैं परन्तु ससृष्ट मे जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौण रहता है। दही लगाकर पराठा खाने मे दही गौण और पराठा प्रधान है। महर्षि पाणिनि ने ससृष्ट प्रक्रिया के तीन उदाहरण दिये है—चूर्णादिन लवणल्लुक मुद्गादण् ४/४/२३ २४ २५। चूर्ण का अर्थ चून है भुने हुये गेहू के आटे को पश्चिमी बोली मे कसार और बनाररी बोली मे चून कहते है। चून भरे हुये गूझे के लिये चूर्णिन अपूपा शब्द प्रचलित था (चूर्णे ससृष्टा)।

भीतर भरे हुये चून या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। ऐसे ही चूर्णिनो धाना कसार के साथ पागे हुये धान नमकीन दाल नमकीन साग नमकीन लपसी मे नमक गौण और दूसरे पदार्थ मुख्य होते हैं। नमक का मिश्रीकरण नहीं केवल ससर्ग किया जाता है।

चूर्ण ४/४/२३

आटा और घी कढाई मे भून कर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पश्चिमी बोली मे इसे कसार किन्तु पूरब की ओर इसे ही चूर्ण या चूरन कहते थे। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार चूर्ण या कसार भरकर जो गुझिया या गूझे बनाये जाते थे उन्हे 'चूर्णी अपूप' कहते थे। विवाह मे कन्या के साथ ऐसे गूझे देने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

व्यञ्जन और उपसिक्त ४/४/२६

मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खाने वाले की इच्छा पर है। धान मे गुड का मिलाना ऐच्छिक होते हुए भी दोनो का महत्त्व समान माना जाता है। ऐसे ही ससर्ग वाले पदार्थो का मिलाना भी ऐच्छिक है किन्तु ससृष्ट पदार्थो की उसमे प्रधानता नहीं होती है परन्तु व्यजन या उपसेचन की मिलावट उस–उस भोज्य पदार्थ के लिये आवश्यक समझी जाती है। अन्नेन व्यञ्जनम् २।१।३४ सूत्र पर पतञ्जलि ने दधि को व्यञ्जन या उपसेचक द्रव्य कहा है जैसे दध्ना उपसिक्त ओदन दध्योदन। काशिका मे क्षीरौदन उदाहरण भी है। खीर बनाने के लिये ओदन मे दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने के लिये दही का मिलाना आवश्यक है।

ओदन ४/४/६७

ओदन को ही भात भी कहा गया है। यह लोगो का प्रिय भोजन था। जल मे उबाल कर बनाये हुये शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे। मास के साथ बनाया हुआ पुलाव मासौदन ४/४/६७ कहलाता था। चरक सहिता मे घृत तेल फल मास तिल के साथ ओदन बनोन का उल्लेख आया है। उसके आधार पर ओदन का वैसा ही नाम पडता था। श्रेष्ठ चवलो का पसाया हुआ भात या ओदन इस देश के सभ्रान्त घरानो का बढिया भोजन माना जाता था। पतञ्जलि के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि लोग अपने मित्रो की दावत ओदन से करते थे।[1] भाष्य मे कई वार विन्ध्यो वर्धितकम् वाक्य आया है। खाने वाले के सामने पत्तल पर लगे हुये भात के ढेर को वर्धितक कहते थे। हसी मे उसकी उचाई की तुलना विन्ध्याचल से की गई है।

---

१ देवदत्त्स्य समाश शरावैरोदनेन च यज्ञदत्त प्रतिविधत्ते –भाष्य १/१/७२
आश्चर्यमिद वृत्तमोदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणाना च प्रादुर्भाव इति। –भाष्य २/३/६५

अपूप ५/१/४

आटा मे घी मिलाकर या घी फेटकर मन्द–मन्द आच मे उतारे हुये मालपुए को ऋग्वेद मे अपूप कहा गया है।[1] यह अपने देश का सर्वप्राचीन मिष्टान्न था। काशिका मे सस्कृत भक्षा सूत्र के उदाहरण मे भ्राष्ट्र अपूप कौम्भ अपूप एव कलश अपूप का उदाहरण दिया है। पाणिनि ने चूर्णी अपूप या कसार भर कर बनाये हुये गुँझिये का उल्लेख किया है। यह विवाह–बारात या तीज त्यौहार पर प्राय बनते थे। मेवा मिले हुये गेहू के चूर्ण के अतिरिक्त मूग और मसूर आदि का चूर्ण या कसार भी बनाया जाता था जैसा कि सूत्र चूर्णादीन्यप्राणि षष्ठया ६/२/१३४ मे उल्लेख है।

अपूपादिगण मे भी अभ्यूष का पाठ है। जो गेहू की बालो को अग्नि मे भूनकर कूटकर गुड मिलाकर हाबुस बनाते है। कामसूत्र मे अभ्यूषखादिका[2] एक क्रीडा का नाम है। पानी मे घोलकर बनाये हुये सत्तू को उदकसक्तु या उदसक्तु कहा जाता था। इससे भी अपूप बनाया जाता था।

षष्टिका ५/१/६०

साठ रात या दो महीने मे पककर तैयार होने से इस धान का यह नाम पडा षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते। लोक मे इसी का नाम साठी है। जैसी लोकोक्ति भी है– साठी पाके साठ दिना दैव बरीसे रात दिना । चरक के अनुसार यह गुणकारी धान माना जाता था[3]।

शालि ५/२/२- शालि का तात्पर्य जडहन से है जो कि मार्गशीर्ष मे होता है। इसके विरुद्ध व्रीहि बरसाती चावल है जो सावन–भादो की फसल मे होते हैं। शालि के खेत शालेय और व्रीहि के व्रैहेय कहलाते थे।

---

१ य स्तेऽद्य कृष्वद् भद्रशोचेऽपूप देव घृतवन्तमग्ने। –ऋग १०/४५/६

२ कामसूत्र ४/१/१

३ सूत्रस्थान १७/१३

यवक ५/२/३

पाणिनि और चरक दोनो मे इस चावल का उल्लेख है। सूत्र ५/४/३ के अन्तर्गत गण पाठ मे भी यवक आया है (यव व्रीहिषु ५/४/३)। इसी गण मे जीर्णक शालि का भी नाम है (जीर्ण शालिषु) चरक ने इसे ही जूर्ण कहा है।

कुल्माष ५/२/८३

पाणिनि ने उस तिथि का नाम पौर्णमासी कहा है जिस दिन वर्ष मे एक बार कुल्माष नामक अन्न नियमत खाने की प्रथा थी (तदस्मिन्नन्न प्राये सञ्ज्ञायाम् कुल्माषादञ् ५/२/८२ ८३)। कुल्माष क्या था इस पर प्राचीन साहित्य से कुछ प्रकाश पडता है। निरुक्त मे कुल्माष को निकृष्ट भोजन कहा गया है (कुल्माषान् चिदादर इत्यवकुत्सिते १/४)।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् मे कथा है कि किसी इभ्य ग्राम (धनी लोगो की बस्ती) मे टिडडी से कृषि नष्ट हो जाने पर वहा के लोग कुल्माष खकर गुजारा कर रहे थे।[2] चरक के अनुार कुल्माष एक स्विन्न भक्ष था जिसे गरिष्ठ समझा जाता था।[3] ऐसा ज्ञात होता है कि गेहू मक्का या बाजरा आदि मोटे अन्न को इतने पानी मे उबालकर कि पानी उसी मे भिद जाय और उसमे तेल या घी की चिकनाई और गुड मिलाकर पिण्डा लडडू बनाकर कुल्माष बनाया जाता था इस प्रकार का अन्न वर्ष मे जिस पूर्णिमा को नियम से खाया जाता होगा

---

१ अमरकोश के अनुसार कुल्माष का अर्थ यवक और अन्य कोशो मे काञ्जीक दिया है।

२ छान्दोग्य उपनिषद् १/१०/२

३ चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने सूत्र स्थान २७/२६० पर लिखा है यव पिष्ट मुष्णोदक सिक्तमीषत स्विन्नमपूपी कृत कुल्माषमाहु। काशिका वृत्ति ने भी कुल्माष का पाठ गुडादिगण मे माना है ४/४/१०३। कौलमाषिक मुद्ग उदाहरण दिया है अर्थात कुल्माष राँधने लायक मूँग।

उस तिथि का नाम कौल्माषी पौर्णमासी लोक मे प्रसिद्ध हुआ। चैत्र पूर्णिमा की तिथि की यह सज्ञा ज्ञात होती है कुछ क्षेत्रो मे आज भी इस तिथि को घुघुरी खाने की प्रथा है।

कषाय ६/२/१०

पाणिनि ने कई प्रकार के कषायो का भी उल्लेख किया है। काशिका मे सर्पिमण्डकषाय उमापुष्पकषाय दौवारिककषाय तीन नाम दिये है। पहला घी और चावल के माण्ड को कई गुना जल मे औंटाकर बनाया जाता था दूसरा अलसी के फूलो को। तीसरा ऐसा कोई पान था जो दौवारिक या प्रतिहारो के लिये तैयार किया जाता था यह हल्के उत्तेजक पेय के रुप मे नींद आने से रोकता था।

महाव्रीहि ६/२/३८

पाणिनि ने चावल की इस श्रेष्ठ जाति का उल्लेख इस सूत्र मे किया है। चरक ने भी अच्छे चावलो की सूची मे इसे गिनाया है।[१] सुश्रुत ने इसकी जगह महाशालि का उल्लेख किया है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि महाशालि भी महाव्रीहि से मिलती जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री ह्वेनसाग के जीवनी लेखक ह्वी–ली ने लिखा है कि जब ह्वेनसाग नालन्दा विश्वविद्यालय मे ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिये दिया गया। स्वय ह्वेनसाग ने भी लिखा है कि मगध मे एक अद्‌भुत जाति का चावल होता है जिसके दाने बडे सुगन्धित और खाने मे अति स्वादिष्ट होते हैं। यह चमकता है और इसे धनिको का चावल कहते हैं।[२] सम्भवत यही महाव्रीहि था।

मिश्रीकरण ६/२/१२८

भोज्य भक्ष्ये सूत्र को छोडकर और सब सूत्रो मे भक्ष्य का अर्थ ठोस खाद्य पदार्थ है। 'पललसूपशाक मिश्रे मे पलल (मास) सूप (दाल)

१ चरक सहिता निदान स्थान ४/६

२ सि.यू.की बील २/८२

और शाक इन्हे भक्ष्य माना गया है। इन ठोस पदार्थो मे गुड घी आदि द्रव्य यथारुचि मिलाते है पर दोनो द्रव्य समान महत्त्व रखते है और उनका मिलाना ऐच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते थे। गुड और धान दोनो को एक साथ पगाकर बनायी हुयी गुडधानी नामक भोजन सामग्री मे गुड और धान दोनो का महत्त्व होता है। मिश्र चानुपसर्गम– सन्धौ ६/२/१५४ पर काशिका मे गुड घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

भोज्य ७/३/६६

इस सूत्र मे भोज्य को भक्ष्य अर्थ मे सिद्ध किया गया है। कात्यायन ने इस पर शका की कि भोज्य मे ठोस और तरल दोनो प्रकार के खाद्य पदार्थ आते हैं लेकिन भक्ष्य दात से चबाये जाने वाले भोजन के लिये ही है। भोज्य का अर्थ भक्ष्य की अपेक्षा विस्तृत है। अतएव भोज्य भक्ष्ये सूत्र ठीक नही बना। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। अतएव वार्तिककार कात्यायन ने सुझाव दिया कि भोज्यम् अभ्यवहार्ये ऐसा सूत्र होना चाहिए। भाष्यकार पतञ्जलि कात्यायन से सहमत नहीं है उन्होने पाणिनि सूत्र को सगत मानकर कहा है कि अब भक्ष और वायुभक्ष इन पुराने उदाहरणो से जाना जाता है कि जो पदार्थ दॉत से नहीं चबाये जोते उनके लिये भी भक्षण क्रिया भाषा मे प्रयुक्त थी। इसलिये भोज्य भक्ष्य पर्याय है और सूत्र मे किसी परिवर्तन की जरुरत नहीं है। बाद के टीकाकारो ने भी इसी अर्थ को माना है। काशिका के अनुसार खरविशद (ठोस) और द्रव दोनो भक्ष्य है। सव्य सूत्रकार ने अष्टाध्यायी मे भक्ष्य शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया है एक तो दॉत से कूॅचकर खाये जाने वाले ठोस भोजन के लिये जैसे–भक्ष्येण मिश्रीकरणम् २/१/३५ और सस्कृत भक्षा ४/२/१६ सूत्रो मे। 'गुडेन ससृष्टा गुड–ससृष्टा गुडससृष्टा. धाना गुडधाना इस उदाहारण के गुड शब्द को भाष्य मे मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। काशिका के अनुसार कडे भोजन को ही भक्ष्य कहते

है (खरविशदमभ्यवहार्य भक्ष्यमित्युच्चते)। इन सूत्रो मे भक्ष्य का अर्थ सीमित है पर भोज्य भक्ष्ये वह ठोस और द्रव दोनो का वाची है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे पाणिनि के समान ही भक्ष्य शब्द के दोनो अर्थ है।[1]

मैरेय ६/२/७०

इस सूत्र का अर्थ है कि मैरेय शब्द के पूर्व पद पर उदात्त स्वर होता है यदि वह पूर्व पद मैरेय मे पडने वाले किसी अग (द्रव्य) का वाची हो। यह ध्यान देने योग्य बात है कि मैरेय का अस्तित्त्व था तभी यह सूत्र बना और साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि यह शराब जिन–जिन द्रव्यो से बनायी जाती थी उसके नुस्खे से भी सूत्रकार पूर्ण परिचित थे। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र से मैरेय पर अच्छा प्रकाश पडता है। अर्थशास्त्र मे मेदक प्रसन्ना आसव अरिष्ट मैरेय और मधु छ प्रकार की सुरा का उल्लेख आया है। अर्थ० २/२५। अर्थशास्त्र मे मैरेय बनाने का तरीका इस प्रकार दिया है– मेषश्रृगीत्वकक्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवाप पिप्पलीमरिच – सभारस्त्रिफला युक्तो वा मैरेय। २/२५। अर्थात् मेषश्रृगी की छाल का काढा बनाकर उसमे गुड डालकर उसे उठाओ फिर पीपल काली मिर्च या त्रिफला का चूर्ण मिलाओ– यही मैरेय है। इस योग मे काकडासींगी मिर्च और त्रिफला–यह ओषधिवर्ग एक ओर और गुड दूसरी ओर है। काशिका मे सूत्र के दो उदाहरण है–गुड मैरेय मधु मैरेय। दोनो ही मूर्धाभिषिक्त उदाहरण जान पडते है जो सूत्र के जन्मकाल से उसके साथ चले आते थे। उदाहरणो के दो पूर्व पद गुड और मधु मधुर वर्ग के है। इससे सूचित होता है कि सूत्रगत अगानि पद से तात्पर्य काकडा सींगी आदि ओषधि वर्ग से नहीं बल्कि मैरेय मे मिठास के लिये डाले जाने वाले गुड शहद आदि

---

१ सूदो भक्ष्यकारो वा भक्ष्यभोजन याचते–अर्थ० ५/१ मे भक्ष्य और भोजन मे भेद किया गया है। किन्तु भक्ष्येषु स्मरति– अर्थ० ५/५ राजा भोजन के समय अपने मन्त्री का स्मरण करता है इस वाक्य मे भक्ष्य का अर्थ ठोस और द्रव भोजन मात्र है।

द्रव्यो से था। यह बात भी समझ मे आती है कि काकडासीगी छाल मिर्च पीपल और त्रिफला ये सब तरह के मैरेय मे एक जैसे रहते थे सिर्फ मिठास वाला द्रव्य घटिया–बढिया किस्म की मैरेय के हिसाब से बदलता रहता था। स्पष्ट है कि मैरेय के अलग–अलग भेदो के नाम मिर्च–पीपल– त्रिफला आदि से नहीं बल्कि गुड शहद आदि से पडना ही स्वाभाविक था। मधुशाला मे बैठा हुआ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार मैरेय की मॉग करते हुये मधुर वर्ग वाची पूर्व पद पर ही बल देता था जैसे– इक्षुरस मैरेय फाणित मैरेय गुड मैरेय शर्करा मैरेय मधु मैरेय लाओ। ये पाच प्रकार के मैरेय उत्तरोत्तर बढिया प्रकार के थे। इक्षुरस राब गुड शक्कर शहद मिलाने से मैरेय नामक आसव मे विभिन्न प्रकार का स्वाद और गुण उत्पन्न होता था। उच्चारण की इस स्वाभाविक स्थिति के कारण ही गुड मैरेय मधु मैरेय आदि शब्दो के पूर्व पद मे उदात्त स्वर बोला जाता था।

काकडासींगी पीपल मिर्च और गुड अर्थशास्त्र मे दिये हुये इस नुस्खे से काशिका का 'गुड–मैरेय उदाहरण तो समझ मे आ जाता है किन्तु फिर भी मधु मैरेय के विषय में जिज्ञासा रह जाती है। अर्थशास्त्र मे ही कौटिल्य ने एक दूसरी विधि बतायी है–गन्ने का रस गुड शहद राब जामुन का रस कटहल का रस इनमे से कोई एक लेकर काकडासींगी और पीपल के काढे मे यदि मिला दिया जाय और फिर उसे एक माह छ माह अथवा एक वर्ष रखा रहने दिया जाय और बाद मे इच्छानुसार उसमे ककडी खीरा गन्ना आम त्रिफला मिलाया जाय तो एक प्रकार का शुक्त तैयार होता है।[१] यहा यद्यपि कहा नहीं गया है किन्तु यह भी मैरेय बनाने की ही विधि है। इसमे छ प्रकार के मधुर द्रव्य एक तरफ और ओषधिया दूसरी तरफ दी हैं। मधुर वर्ग मे शहद की भी गणना की गई है। इससे काशिका का मधु मैरेय उदाहरण स्पष्ट हो जाता है।

---

१ अर्थशास्त्र २/१५

इक्षुवण ८/४/५

अष्टाध्यायी मे गन्ने के बडे खेतो का उल्लेख हैं जिन्हे इक्षुवण कहते थे। गुडे साधु प्रयोग उस जाति के गन्ने के लिये किया जाता था जिसका गुड गढिया बने। किसानो की बोली मे इससे मिलते-जुलते शब्द आज भी चलते है। उत्तर भारत के किसान नौगजिया सरौती गन्ना को गुड के लिये अच्छा मानते हैं और बुआई करते समय ऐसे ही गन्नो के बीज का चुनाव करते हैं जिनसे गुड अच्छा बने। ७/२/१८ सूत्र मे फाण्ट के प्रत्युदाहरणस्वरुप फाणित का उल्लेख है। औटाये हुये गाढे गन्ने के रस मे दाना उठने के बाद जो गुड बनता है उसी का सस्कृत नाम फाणित था।

रस को औटाकर या तो भेली बनाते थे या फाणित अर्थात गुड। फाणित से ही शर्करा बनती थी। गुड भेली और शर्करा ५/२/१०४ इन तीनो का निर्माण गॉवो के आर्थिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अग था। यह उद्योग अति प्राचीनकाल से ही इस देश मे सगठित है। शर्करा शब्द का एक अर्थ पत्थर की रोरी या ढोका भी था जिसके सानिध्य मे आबाद होने के कारण उत्तरी सिन्ध का एक नगर शार्कर कहलाता था यही वर्तमान मे सक्खर है।

सामाजिक संस्थाएं

ज्ञाति १/१/३५

माता-पिता के द्वारा अपने सभी सम्बन्धित बान्धव ज्ञाति कहे गये है।[1] पाणिनि ने ज्ञाति को स्व का पर्याय कहा है स्वमज्ञाति-घनाख्यायाम् । सम्भवत यहा केवल पितृ कुल के सम्बन्धियो का ही ग्रहण है।

---

१ ज्ञातयो मातृ-पितृ सम्बन्धिनो बान्धवा -काशिका ६/२/१३३

वश २/१/१६

वश दो प्रकार का होता था—विद्या और योनि सम्बन्ध मे—विद्यायोनि सम्बन्धेभ्यो वुञ् ४/३/७७ ऋतो विद्या योनि सम्बन्धेभ्य ६/३/२३। विद्या वश गुरु—शिष्य परम्परा मे चलता था यह भी योनि सम्बन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि सम्बन्ध मातृवश और पितृ वश से दो प्रकार का होता था।[1]

शिष्य लोग अपने—अपने चरण मे गुरु—शिष्य परम्परा अथवा विद्यावश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषदो मे इस प्रकार के कई विद्यावश सुरक्षित हैं। योनि सम्बन्ध से प्रवृत्त होने वाले पितृवश के अतीत के पीढियो की सख्या यत्नपूर्वक रखी जाती थी जैसा कि सख्या वश्येन २/१/१६ सूत्र से ज्ञात है। ऐसी प्रथा थी कि वश के मूल सस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढियो की सख्या जोडकर उस वश के दीर्घकालीन अस्तित्त्व का सकेत दिया जाता था। उदाहरणार्थ— २/४/८४ सूत्र पर पतञ्जलि ने एकविंशति भारद्वाजम् एव त्रिपञ्चाशद् गौतमम् का उल्लेख किया। प्रथम का सकेत भारद्वाज के कुल की २१ पीढियो से है जबकि द्वितीय का सकेत है कि मूल पुरुष गौतम से उदाहरण की रचना के समय तक ५३ पीढिया बीत चुकी थीं। यदि एक पीढी का आयुष्य भोग २५ वर्ष माना जाय तो लगभग १३०० वर्ष पूर्व गौतम वश प्रवर्तित हुआ होगा। इस काल गणना का कुछ समर्थन वृहदारण्यक उपनिषद् की वश सूचियो से भी होता है। इसमे गुरुशिष्य परम्परा की ५७ पीढियो की गिनती है। ब्राह्मण युग के अन्त मे जब इस प्रकार की सूचियो का सकलन किया गया उस समय के लगभग ही त्रिपञ्चाशद् गौतमम् जैसा शब्द प्रयोग अस्तित्त्व मे आया होगा। गौतम वश के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि उपनिषत काल मे अरुण उसके पुत्र उद्दालक आरुणि उसके पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय जैसे प्रसिद्ध आचार्यो के रुप मे इस वश की पर्याप्त ख्याति थी।

---

१. अपर आह—द्वावेव वशौ मातृवश पितृवशश्च ४/१/१४७ वा—भाष्य।

सयुक्त ४/१/१३७

सयुक्त ससुराल के सम्बन्धियो को कहते थे।[1] पाणिनि ने श्वसुर–श्वश्रू (१/२/७१) श्वसुर्य=श्वसुर का पुत्र को सयुक्त कहा है।

सगोत्र ४/१/१६२

'गोत्र अष्टाध्यायी का महत्त्व पूर्ण शब्द है। महर्षि पाणिनि के अनुसार अपत्य पौत्र प्रभृति गोत्रम् यह गोत्र की परिभाषा थी। इसका अर्थ पौत्र प्रभृति यदपत्य तदगोत्रसज्ञ भवति अर्थात् एक पुरखा के पोते पडपोते आदि जितनी सन्तान होगी वह गोत्र कही जायेगी। गोत्र प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध स्थविर या वश्य भी कहते थे उदाहरणार्थ–यदि मूल पुरुष का नाम गर्ग होता तो उसका पुत्र गार्गि पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

किसी परिवार मे कौन गार्ग्य है और कौन गार्ग्यायण समाज मे इसका महत्त्व था। गोत्र नाम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था। इसीलिये महाभारत जातक आदि प्राचीन ग्रन्थो मे व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनो के विषय मे प्रश्न किया जाता था। वास्तव मे बात यह थी कि गोत्रो की परम्परा प्राचीन ऋषियो से चली आती थी। यह माना जाता है कि ब्रह्मा के चार पुत्र–भृगु, अगिरा मरीचि और अत्रि हुये ये चारो गोत्रकर्ता थे। पुन भृगु कुल मे यमदग्नि अगिरा के गौतम और भरद्वाज मरीचि के कश्यप वशिष्ठ और अगस्त्य एव अत्रि के विश्वामित्र हुये। इस प्रकार यमदग्नि गौतम भरद्वाज कश्यप वशिष्ठ अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्रकर्ता बन गये। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वश चला। इन्हीं मूल आठ ऋषियो को गोत्रकृत् माना गया। फिर इनमे से प्रत्येक के वश मे भी ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुये जिनकी

---

१. सयुक्ता स्त्री सम्बन्धिन श्यालादय –काशिका ६/२/१३३

विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अन्तर्गत पर स्वतन्त्र गोत्रकर्ता के रुप मे की जाने लगी। आगे चलकर और भी बहुत से लोग गोत्रकर्ता बन गये तो उनकी गणना गोत्रगण के नाम से कर ली गई। इस प्रकार मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले गोत्र गणो की सूचिया प्राचीन समय मे सडग्रहीत की गई। इस प्रकार की सबसे वृहत् सूची वौधायन श्रौतसूत्र के अन्त मे पायी जाती जिसका नाम महाप्रवरकाण्ड है। इस सूची मे लगभग एक सहस्र नाम है। आपस्तम्ब कात्यायन एव आश्वलायन के श्रौत सूत्रो मे भी गोत्रो की सूचिया है परन्तु इसमे बौधायन की अपेक्षा नामो की सख्या कम है।

गोत्र के प्रश्न पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि पुराने ऋषियो ने जो गोत्र—नामो का सग्रह किया वह समाज की वस्तविक अवस्था का सूचक था। उन्हे जो प्रसिद्ध गोत्रो के नाम मिले उनका सड्ग्रह कर लिया और विदित होता है कि ये नाम भी ब्राह्मण गोत्र ही थे। इसके अतिरिक्त समाज मे तो प्रत्येक परिवार का अपने पूर्व पुरुष की अपेक्षा स्वतन्त्र वश नाम हो सकता है एव क्षत्रिय वैश्य एव इतर जातियो मे भी सैकडो गोत्रो के नाम प्रचलित रहे होगे जिस प्रकार आज भी हैं। इस तथ्य को पुराने लोगो ने भी पहचाना था इसीलिये कहा गया—गोत्रणा तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च अर्थात समाज मे जितने कुल है उन सबके नामो का सडग्रह किया जाय तो परिवारों के नामो की सख्या सहस्रो लाखो क्या अरबो तक हो सकती है। पर व्याकरण मे अथवा धर्मशास्त्र मे उन सबका सड्ग्रह न तो सम्भव ही है और न अभिमत ही। कहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपना—अपना वश चलाता है पर वास्तविक वश कर्ता या गोत्रकृत वे ही होते हैं जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है इसी स्वाभाविक स्थिति को व्याकरण शास्त्र भी मानता है। ऋषियो के नाम से जो पुराने गोत्र चले आते थे पाणिनि ने शब्द रुप और प्रत्ययो की दृष्टि से उसका वर्गीकरण करके उन्हे लगभग २० गणो मे सूचीबद्ध

कर दिया पर ऋषि गोत्रो के अतिरिक्त और भी अनेको परिवारो के नाम समाज मे थे। वे भी भाषा का अग होने के कारण बोल—चाल मे काम आते थे। उन अल्ल बौंक या ख्यातो के लिये पाणिनि ने एक नया शब्द गोत्रावयव' ४/१/७६ जिसे काशिका मे कुलाख्या कहा गया है।[1] ऐसे छोटे कुलो की कोई गणना पाणिनि ने नही की है केवल एक सूत्र क्रौडयादिभ्यश्च ४/१/८० मे उन नामो की थोडी सी बानगी दे दी है।

कुल ४/१/१३६, ४/२/६६

परिवार की सज्ञा कुल थी। कुल की प्रतिष्ठा पर प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज मे उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल मे उत्पन्न व्यक्ति कुलीन ४/१/१३६ और महाकुल मे उत्पन्न महाकुलीन माहाकुलीन अथवा माहाकुल ४/१/१४१ कहलाता था। काशिका के अनुसार श्रोत्रिय कुल मे उत्पन्न व्यक्ति की सज्ञा श्रोत्रियकुलीन थी। मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह वेदाभ्यास यज्ञ इन तीन उपायो से कुलो की प्रतिष्ठा बढकर महाकुल जैसी हो जाती थी।[2] यो तो समाज मे चारो ओर कुल ही कुल थे किन्तु उत्कृष्ट कुलो की गणना मे स्थान पा लेना कुल सख्या प्राप्त करने का आदर्श था। महाभारत मे भी इस प्रकार के महाकुलो की प्रशसा की गई है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाकुल मे उत्पन्न व्यक्ति के लिये भाषा मे पाणिनि निर्दिष्ट कई शब्दो की आकाक्षा थी।[3]

---

१ गोत्रावयवा गोत्रभिमता कुलाख्या पुणिकमुणिक मुखर प्रभृतय —काशिका ४/१/७६

२ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसख्या च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यश ।। मनु० ३/६६

३ महाकुलाना स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थवृद्धाश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वा विदुर प्रश्नमेत भवन्ति वै कानि महाकुलानि।।
तपो दमो ब्रह्म वित्त्व विताना पुण्या विवाहा सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृत्तस्तानि महाकुलानि।। —महाभारत उद्योग पर्व ३६/२२—२३

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्यायन मे प्रमाद करते अथवा किसी भी रुप मे सदाचार का परित्याग करते वे अकुल या हीनकुल माने जाते थे। ऐसे कुलो मे उत्पन्न व्यक्ति के लिये पाणिनि ने दुष्कुलीन या दौष्कुलेय शब्दो के प्रयोग का उल्लेख किया है ४/१/१४२।

सपिण्ड ४/१/१६५

यह सूत्र युग का विशिष्ट शब्द था जो सहिता ब्राह्मण आरण्यको मे नहीं मिलता। धर्मशास्त्रो के अनुसार पिता की सातवीं पीढी और माता की पाचवी पीढी तक के सम्बन्धी सपिण्ड कहलाते है।[1] पाणिनि ने इसके लिये वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ४/१/१६५ सूत्र का उल्लेख किया है।

अतिथि ४/४/१०४, ५/४/२६

अभ्यागत के लिये अतिथि उसकी सेवा शुश्रूषा को आतिथ्य और आवभगत करने वाले गृहपति को आतिथेय कहा जाता है। अतिथि के आने पर उसकी परिचर्या विधि गृह्यसूत्रो मे विस्तार से कही गई थी। पाद्य और अर्घ्य का पाणिनि ने भी उल्लेख किया है ५/४/२५। अतिथि के लिये वैदिक भाषा के 'गोघ्न' शब्द का भी प्रयोग सूत्रो मे हुआ है।

मित्र ५/१/१२६, ५/४/१५०

परिवार के अतिरिक्त मित्र और सुहृद्वर्ग मे भी मानव अपने मन की प्रसन्नता का अनुभव करता है। जातको मे माता—पिता मित्र—सुहृत् ज्ञाति वर्ग का प्राय साथ उल्लेख आता है।[2] पाणिनि ने सखि मित्र सुहृत् और उनके सौहार्द भाव के लिये सख्य और सगत का उल्लेख किया है। आयु पर्यन्त निभने वाली गाढी मैत्री अजर्य सगत कहलाती थी।

---

१ मनु० ५/६०

२ जातक ५ पृष्ठ १३२

साप्तपदीन सख्य ५/२/२२ का साप्तपदीन शब्द प्राचीन काल से चला आता था। अथर्ववेद मे अथर्वा वरुण को अपना सप्तपदसखा कहता है और वरुण भी उसके लिये यही भाव प्रकट करता है। महाभारत मे भी सप्तपद सख्य का उल्लेख है।[1] गृह्यसूत्रो मे विवाह सस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी का विधान है।उसी से साप्तपदीन या साप्तपद सख्य का आदर्श स्थिर हुआ। ऋग्वेद मे सप्तपदी के लिये अग्नि द्वारा इष और ऊर्ज के दोहन का उल्लेख है।[2] सप्तपदीन मित्रता राम–सुग्रीव मैत्री की भॉति अग्निसाक्षिक हुआ करती थी।[3]

सनाभि ६/३/८५

समान नाभि के स्थान मे सनाभि आदेश होता है। नाभि का अर्थ यहा गर्भनाल से है। ऋग्वेद मे ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभिया मनु अत्रि और कण्व आदि पूर्वजो के साथ मिली हुई है।[4] सनाभि के अन्तर्गत पहली और पिछली सभी पीढियो के रक्त सम्बन्धी आ जाते हैं। पर मनुस्मृति ५/१८४ पर कुल्लूक ने सनाभ्य का अर्थ सपिण्ड किया है।

पारिवारिक सम्बन्ध

सुविदित होते हुये भी पारिवारिक शब्दो की सूची (जो शब्द सूत्रो मे आये है) यहा दी जा रही है–

स्वसा १/२/६८ माता–पिता १/२/७० मातुलानी ४/१/४६ पैतृष्वसेय ४/१/१३२ मातृष्वसेय ४/१/१३४ स्वस्रीय ४/१/१४३ भ्रातृव्य ४/१/१४४ ज्यायान् भ्राता ४/१/१६४ पितृव्य पितामह मातामह मातुल ४/२/३६ सोदर्य भ्राता ४/४/१०६ मातृष्वसा पितृष्वसा ८/३/८४।

---

१ महाभारत वनपर्व २६०/३५, २६७/२३

२ अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरि। सूर्यस्य सप्तरश्मिभि मैत्री। –ऋग्वेद ८/७२/१६

३ रामायण किष्किन्धा ८/४

४ ऋग्वेद १/१३६/६

माता–पिता दोनो के लिये एकशेष वृत्ति द्वारा माता का लोप करके पितरौ शब्द का प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने अभ्यर्हितम २/२/३४ वा० ४ वार्तिक का दृष्टान्त देते हुये माता पितरौ मे माता को पिता से अधिक पूज्य माना है जो मनु के अनुकूल है।[1] पाणिनि का भी सम्भवत यही मन्तव्य था जैसा कि उन्होने सूत्र ४/२/३६ मे मातामह शब्द को पितामह शब्द से पहले ही रखकर व्यक्त किया है। पितरौ भ्रातारौ पुत्रौ श्वसुरौ आदि एकशेष शब्दो मे पुरुषवाची शब्द ही शेष रहता है जो पितृसत्तात्मक समाज के कारण स्वाभाविक ही है।

पुमान् स्त्रिया १/२/६७ सूत्र से भी यही सकेत मिलता है। पिता और माता आदि मे कौन प्रधान और कौन उपसर्जन या गौण है इसका विचार आचार्य ने जान–बूझकर अपने शास्त्र मे नहीं किया और कहा है कि इस विषय मे लोक को ही प्रमाण मानना उचित है।

पुत्र–पौत्र नाती–पनाती आदि से फलते–फूलते परिवार के लिये लोक मे पुत्रपौत्रीण यह सुन्दर प्रयोग प्रचलन मे था पुत्रपौत्रमनुभवति ५/२/१०। बहुप्रज शब्द ५/४/१२३ भी ऐसा ही था।

वस्त्र एवं अलङ्कार

वैदिक भाषा मे वस्त्र और वसन शब्द प्रचलित थे। पाणिनि मे चार नये शब्द और आ गये थे–चीवर ३/१/२० आच्छादन ३/३/५४ ५/४/६ चेल ३/४/३३ एव चीर ६/२/१२७। चीवर का प्रयोग ब्राह्मण एव आरण्यक साहित्य मे कहीं नहीं है। चान्द्रवृत्ति एव काशिका मे चीवर का उदाहरण सचीवरयते भिक्षु जो इस शब्द के बौद्ध पृष्ठभूमि का सकेत करता है। गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रो के लिये चीवर नही चलता था। आच्छादन भी एक नया शब्द था जो ब्राह्मण ग्रन्थो मे नहीं मिलता लेकिन धर्मसूत्रो मे उसका प्रयोग प्राप्त होता है।[2] अष्टाध्यायी मे प्रावार एव वृहतिका जैसे वस्त्रो को आच्छादन कहा गया है।

१ सहस्रतु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते –मनु० २/१४५

२ तदशिष्य सञ्ज्ञा प्रमाणत्वात् १/२/५३
कालोपसर्जने च तुल्यम् १/२/५७

वस्त्रों के विविध प्रकार

रेशमी वस्त्रो के कौशेय अलसी (उमा) के तन्तुओ से बनाये हुये वस्त्रो को औम–औमक और ऊनी वस्त्रो को और्ण या और्णक कहते थे। मयड्वैतयोर्भाषयामभक्ष्याच्छादनयो[1] ४/३/१४३ सूत्र के प्रत्युदाहरण मे कार्पास आच्छादन या सूती वस्त्र का उल्लेख है। सूत्र मे कार्पासी शब्द नहीं है पर बिल्वादिगण मे उसका पाठ अवश्य था अन्यथा ४/३/१४३ सूत्र मे आच्छादन पद व्यर्थ हो जता। तूल शब्द का ३/१/२५ सूत्र मे उल्लेख है। इषीकातूल का अर्थ सींक मे लिपटी हुई रुई हो सकता है।

प्रावार ३/३/५४

इस सूत्र द्वारा पाणिनि ने प्रावार शब्द का विशेष रुप से विधान किया है। यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जगली जानवरो के रोये से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत मे भी प्रावार का उल्लेख आता है। ऐसा ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढिया किस्म का कम्बल था जिसे तूस या दुशाला कहना चाहिये।

कम्बल ५/१/३

तत्कालीन समाज मे पण्यकम्बल नाम से एक विशेष माप का बाजार मे चालू कम्बल बनता था उसमे जितना ऊन लगता था उसके लिये कम्बल्य शब्द था। पाणिनि ने कम्बल्य को तोल विशेष का वाचक सज्ञा शब्द कहा है। काशिका मे लिखा है कि १०० पल अर्थात ५ सेर ऊन की सज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यम् उर्णा पलशतम् पल=४ तोले १०० पल=४०० तोले=५ सेर) ४/१/१२ मे भी कम्बल्य शब्द आया है जिसके उदाहरण मे काशिका ने द्विकम्बल्या त्रिकम्बल्या प्रयोग दिया

---

१ वशिष्ठ १७६२१८३३
राजपत्न्यौ ग्रासाच्छादने लभेरन् अर्थ० १/११

है। दो कम्बल्य या १० सेर ऊन और त्रिकम्बल्या या १५ सेर ऊन से मोल ली गई—यह अर्थ भेड के लिये ही चरितार्थ होता होगा।

वृहतिका ५/४/६

इस सूत्र के अनुसार विशेष प्रकार के वस्त्र के अर्थ मे वृहतिका सिद्ध होता है। अमरकोश मे वृहतिका को प्रावार लिखा है। पतजलि के एक वाक्य से सूचित होता है कि वृहतिका सामान्य रुप से प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था।[1]

४/२/१०० रकोरमनुष्येऽण् च मे पठित रकु शब्द से राकव तथा राकवायण् इन दो शब्दो की सिद्धि की गई है। रकु किसी जनपद का नाम था। काशिका से ज्ञात होता है कि वहा के बैल और कम्बल प्रसिद्ध थे जिन्हे राकव कम्बल कहते थे। चीन हूण शक आदि देशो के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिये जो उपहार सामग्री लाये थे उसमे और्ण रेशमी (कीटज) पाट या चीनी घास के बने हुये और राकव इन चार प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख है।[2] मध्य एशिया की लम्बे बालो वाली भेडे रकु कहलाती थी उन्हीं के विशेष ऊन से बने हुये कम्बल राकव होने चाहिये ।

नागरक जीवन

नगर का प्रवीण व्यक्ति या छैल नागरक (नगरात्कुत्सन प्रावीण्ययो ४/२/१२८) कहलाता था। सौन्दर्य के लिये अलकरण और सुभगकरण और सजावट के लिये आढयकरण ३/२/५६ का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अगो को सजाकर उनका सस्कार किया जाता था—स्वागेभ्य प्रसिते ५/२/६६ यथा—बालो को सवारने काढने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था।-केशवेश ४/१/४२ अलकार ४/३/६५

१ शुक्लश्च कम्बल शुक्ला च बृहतिका शुक्ल च वस्त्र तदिद शुक्ल तानीमानि शुक्लानि—भाष्य १/२/६६

२ महाभारत सभापर्व ४७/२२ २३

आच्छादन ५/४/६ उसी क्षेत्र के सूचक शब्द है। वामोरु सहितोरु शफोरु ४/१/७० शब्द स्त्री सौन्दर्य के सूचक हैं। सत महतपरम उत्तम उत्कृष्ट २/१/६१ वृन्दारक नाग कजर पूज्यमान २/१/६२ आदि शब्द नागरिको की सामाजिक प्रतिष्ठा का सकेत करते हैं। पूरुष सिह पुरुष व्याघ्र आदि नये शब्द लौकिक सस्कृत मे प्रयुक्त होने लगे थे। २/१/५६

स्त्रिया शालभञ्जिका आदि उद्यानक्रीडाओ से एव पुरुष प्रहरणक्रीडाओ से मनोविनोद करते थे। तदस्या प्रहरणमिति क्रीडायाण ४/२/५७।

अलकार

ग्रैवेयक ४/२/६६ अगुलीय ४/३/६२ कर्णिका ४/३/६५, ललाटिका ४/३/६५ इन चार गहनो का सूत्रो मे उल्लेख है। मौर्य–शुग काल की भारतीय कला मे ये अलकार मिलते है।

भूषण अलकार या सुभगकरण से सम्बन्धित अन्य वस्तुओ का भी वर्णन आया है यथा दर्शन या शीशा अञ्जन माला गन्ध दण्ड उपानह आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच मे उठा हुआ जिसमे सामने से ही ठीक देखा जा सके। अञ्जन शब्द का सूत्र मे उल्लेख नहीं है पर त्रिककुत पर्वत ५/४/१४७ का है जहा से वैदिक काल से ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था इसे त्रैककुद् अञ्जन कहते थे।[1] महाभारत मे भी उल्लेख आया है कि मद्रदेश की गोरी स्त्रिया त्रैककुद् अञ्जन से अपनी आखो की शोभा बढाती थी।[2] सौवीर देश मे यही सौवीराञ्जन कहा जाता था।

---

१ अथर्व० ८/६/६

२ मन शिलोज्जवलापागा गौर्यस्त्रिककुदाञ्जना महाभारत कर्ण पर्व ३०/२२

पाणिनि ने जिस कलकूट जनपद का उल्लेख ४/१/१७३ सूत्र मे किया है यह यही महाभारत का कालकूट ही है। यमुना की ऊपरी धारा के प्रदेश मे स्थित यहा से यामुनाञ्जन आता था। मालाओ से शरीर सजाने वाले को मालभारी

६/३/६५ (स्त्री को मालभारिणी) कहा जाता था। भाष्य मे इसी सूत्र पर उत्पल मालभारिणी कन्या उदाहरण दिया गया है। पाणिनि ने स्रग्वी (स्रज या माला पहनने वाला) का उल्लेख किया है ५।२।१२१। यह शब्द स्नातक के प्रसग मे प्रयुक्त होता था।[१]

परिवहन

आने जाने या माल ढोने के लिये सवारी वह्य (वह्यकरणम् ३/१/१०२ वहत्यनेनेति वह्य शकटम्) या वाहन ८/४/८ कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे स्थल के लिये और जल के लिये जिन्हे उदवाहन कहते थे। वाहन का नाम उसमे लदे हुये बोझ के अनुसार पडता था।

रथ ४/२/१०

रथ विशेष कर मनुष्यो के आने–जाने का यान था। रथो का समूह रथ्या या रथकटया कहलाता था (४/२/५०–५१। सेना मे भी रथो का उपयोग होता था। सूत्र २/४/२ मे सेनाग का उदाहरण देते हुये काशिका मे रथिकाश्वारोहम आया है।

रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खीचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खीचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य–युग्य च पत्रे ३/१/१२१ कहा गया है। इतर साहित्य मे इन दोनो को वाहन अर्थात् सवारी भी माना गया है।

---

१ **त प्रतीत स्वधर्मेण ब्रह्मदायहर पितु।**
स्रग्विण तुल्प आसीनमर्हयेत् प्रथम पिता।।–मनु ४/२८

पाणिनि ने रथाग को अपस्कर भी कहा है ६/१/१४६ जो रथ का कोई विशेष भाग या उसका पहिया भी हो सकता है किन्तु महाभारत मे बराबर उपस्कर शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] अपस्कर का नही। रथ के पहिये जुए आदि के लिये रथ्य इस विशेष शब्द का पाणिनि ने उल्लेख किया है।[2] रथकारो की भाषा मे इस शब्द का विशेष प्रचलन रहा होगा क्योकि वे रथ के चक्र वा जुए को अधिक सावधानी से बनाते और मूल्यवान् समझते थे।

धुरे के लिये अक्ष शब्द था ५/४/७४। कुत्सित धुरे को–'काक्ष कहा जाता था ६/३/१०४। इसी प्रसग मे पाणिनि ने कद्रथ का भी उल्लेख कुत्सित रथ के लिये किया है सम्भवत काक्ष एव कद्रथ का आपसी सम्बन्ध था।

प्राचीन भारत मे रथ बनाने की चार अवस्थाये थी। सर्वप्रथम बढई रथ के एक–एक भाग जैसे रथचक्र ईषादण्ड अक्ष युग कूबर आदि को अलग–अलग बना लेता था दूसरी अवस्था मे वह उन्हे एक मे ठोकता और मिलाता था। इन दोनो अवस्थाओ का उल्लेख भाष्य[3] मे है। तीसरी अवस्था वह थी जिसमे रथ को चमडे एव कपडो से ढका (मढा) जाता था इसका उल्लेख पाणिनि ने ४/२/१०–११ मे किया है। चौथी अवस्था मे रथ को जहा तहा आवश्यक रस्सियो से कसा जाता था। इस प्रक्रिया का सकेत पाणिनि ने प्राध्व बन्धने १/४/७८ सूत्र मे किया है।

रथ मढने (परिवृतो रथ) के काशिका मे तीन उदाहरण है–वास्त्र काम्बल चार्म। कम्बल से मढे हुये रथो मे पाणिनि ने पाण्डुकम्बली रथ का विशेष रुप से उल्लेख किया है–पाण्डुकम्बलादिनि

---

१ महाभारत सभा पर्व ५४/४ महाभारत भीष्म ५६/६

२ रथस्येद रथ्या चक्र वा युग वा रथाग एवस्येते नान्यत्र अनभिधानात–काशिका ४/३/१२१

३ यथा तर्हि रथागानि विहतानि प्रत्येक ब्रजिक्रिया प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत समुदायश्च रथ समर्थ । १।२।४५ वा० १० महाभाष्य

४/२/११। काशिका के चार्मण रथ उदाहरण पर भी पाणिनि से विशेष प्रकाश पडता है। यो तो साधरण रथ मामूली चमडे से मढे जाते थे किन्तु द्वैप वैयाघ्रादञ् ४/२/१२ सूत्र से प्रतीत होता है कि बाघ और चीते के चमडे भी विशेष रथो को मढने के काम मे लाये जाते थे। ऐसे रथ द्वैप एव वैयाघ्र कहलाते थे। अपने देश मे वैयाघ्र रथ की परम्परा वैदिक युग से आरम्भ हो गई थी और वह राजाओ के काम मे आता था। राज्याभिषेक के समय राजा वैयाघ्र रथ पर बैठकर उत्सव यात्रा के लिये निकलता था। रामायण मे राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिये अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र रथ भी लाया गया।[१] पूर्व देश के राजा युधिष्ठिर के लिये जो उपहार लाये थे उनमे वैयाघ्र रथ भी था जिसे वैयाघ्र परिवारित रथ (बाघ के चमडे से मढा हुआ रथ)[२] अथवा सहस्रसमिति वैयाघ्र राज–रथ (एक हजार कार्षापण मूल्य का वैयाघ्र नामक राजकीय रथ)[३] कहा गया है। वैयाघ्र चमडा और चीजे मढने के काम मे आता था जैसे–महाभारत मे ही राजकुमार भीम की तलवार की म्यान को वैयाघ्र कोष कहा गया है।[४]

भिन्न प्रकार के मार्गो मे कौटिल्य ने रथ–पथ का विशेष रुप से उल्लेख किया है।[५] वह रथ जो इतना मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते के समान ही ऊबड–खाबड मार्ग मे भी ले जाया जा सके 'सर्वपथीन ५/२/७ कहलाता था।[६] वह सारथि जो सब तरह के अर्थात सीधे और कडवे जानवरो को हाक सके सर्वपत्रीण ५/२/७ कहा जाता था यह सारथि की सुघडाई का वाचक था।

परिस्कन्द प्राच्य भरतेषु ८/३/७५ सूत्र मे पाणिनि ने लिखा है कि भरत जनपद और प्राच्य देश मे परिस्कन्द शब्द प्रचलित था।

---

१ रामायाण अयोध्या० ६/२८
२ महाभारत सभापर्व ५१/२३
३ महाभारत सभापर्व ६१/४
४ महाभारत विराट पर्व ३८/३० ५५
५ अर्थशास्त्र २/४
६ सर्वपथ व्याप्नोति सर्वपथीनो रथ–काशिका ५।२।७

इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश मे इसका उच्चारण मूर्धन्य षकार के साथ परिष्कन्द होता था। परिष्कन्द उन दो सैनिको को कहते थे जो रथ के दोनो ओर पहियो के साथ रहकर दोनो ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त मे पाच बार परिष्कन्द शब्द आया है। अथर्व० १५/२/६ मे इसका रुप द्विवचनान्त है किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण मे एकवचन है।[1] महाभारत मे परिष्कन्द नामक परिचारको को चक्ररक्ष कहा गया है।[2] उपरिलिखित प्राध्व वन्धने गाडी और रथो के बनाने मे सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमे उन्हे रस्सी या डोरियो से कसा जाता था। पाणिनि ने प्राध्व बन्धने १/४/७८ सूत्र मे इसी का उल्लेख किया है। सूत्र का व्याकरण परक अर्थ इतना ही है कि प्राध्वकृत्य पद बाधने के लिये प्रयुक्त होता है। प्रश्न उठता है कि प्राध्वकृत्य का अर्थ बन्धन कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गाडी या रथ का सब ठाट तैयार हो जाने पर जब बढई का काम समाप्त हो जाता तो ग्राहक उसे अपने घर ले आता था वह गाडी तब तक काम के योग्य अर्थात मार्ग मे चलने योग्य नहीं समझी जाती थी जब तक उसे रस्सियो से कसा न जाय। सग्गड या लढिया गाडी के ढाचे और जुए को बरही (बद्ध्री) नामक मोटी रस्सी से कसकर बाधते हैं और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियो से बहुत सफाई के साथ कसते हैं। कसकर बाधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही प्रत्येक वाहन अध्व के अनुकूल बनाया जाता है। चाहे सारी गाडी या मढा हुआ रथ तैयार हो किन्तु बन्धन के बिना वह प्राध्व नही होता।

पाणिनीय सूत्र उपसर्गादध्वन ५/४/८५ का एक उदाहरण है प्रगतोऽध्वान प्राध्वो रथ प्राध्व शकटम। इससे ज्ञात होता है कि मार्ग मे चालने के योग्य रथ या गाडी को प्राध्व कहा जाता था। प्राध्वकृत्य

---

१ भूम्ने परिष्कन्दम्-परिचारकम् -भटट भाष्कर अथर्व० १५/३/१० तस्य देवजना परिस्कन्दा आसन।

२ महाभारत भीष्मपर्व १८/१६

का प्रत्युदाहरण प्राध्वकृत्वा था। यदि मार्ग मे चलती कोई गाडी टूट जाये तो उसे सडक के एक किनारे रोक देते है और फिर मरम्मत करके उसे चलाते है। प्राध्व कृत्वा का यही अर्थ है अर्थात् जो चलती हुई गाडी रास्ते से उतर गई हो उसे ठीक करके रास्ते पर डाल दिया जाय। दोनों शब्दो मे व्याकरण की बात इतनी ही थी कि प्राध्वकृत्य मे ल्यप् प्रत्यय और समास होता प्राध्व कृत्वा मे नहीं।

भस्त्रा ४/४/१६

भस्त्रा का लोक मे अर्थ लोहार की धोकनी है किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ फुलाई हुई खाल लिया जाता है। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के बजरे को कहते थे जो भेड–बकरी या उससे बडी खालो को हवा से फुलाकर और एक दूसरे मे बाधकर बनाया जाता था। पाणिनि ने इस विशिष्ट अर्थ मे इस शब्द को प्रयोग किया है। भस्त्रादिभ्य ष्ठन् ४/४/१६ सूत्र के अनुसार भस्त्रिक उसे कहते थे जो भस्त्र के बजरे से नदी पार कराता या बोझा ढोता था (भस्त्रया हरति भस्त्रिक)। पजाब उत्तर–पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाडी नदियो मे यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित एव क्षिप्र उपाय है। बलूचिस्तान मे ऐसे बजरे या तमेडो को जक कहते है (तिब्बती याक या झब्बू गाय की खाल से बनाया हुआ)। इस समय बकरे की खालो को सीकर जक बनाते हैं जिनका एक पैर हवा भरने के लिये खुला छोड रखते है इन फुलाई हुई खालो के ऊपर बास बाधकर या मछुओ का जाल फैलाकर एक साथ बाध लेते है और यात्री उन्ही पर बैठकर सात–आठ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से आनन्दपूर्वक यात्र करते है। पजाब मे दो बैलो की फुलाई हुई खालो पर चारपाई विछाकर बैठ जाते है। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधा जनक रहते है। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुॅच जाते है मल्लाह खाल को पटककर कन्धे पर डाल लेता है और नदी किनारे

पैदल चलता घर आ जाता है। भारतवर्ष एवं प्राचीन ईरान में भी इस प्रकार के बजरों की प्रथा थी, जिसे पाणिनि ने भस्त्र कहा है।

पाणिनि का दूसरा सूत्र है—हरत्युत्संगादिभ्यः ४/४/१५। इसके अनुसार उत्संगेन हरति औत्संगिकः, यह प्रयोग बनता था। उसी गण में उडुप, उत्पट, पिटक ये तीन शब्द और पढ़े हैं। ये शब्द विभिन्न प्रकार की नावों के वाचक हैं। उत्संग का गोद अर्थ यहां संगत नहीं है, क्योंकि गोद में ढोने की छणिक क्रिया से भाषा में शब्द की आकांक्षा नहीं होती। जिस प्रकार भौलिया, पनसुइया, पटेला, सारंगा आदि भिन्न—भिन्न प्रकार की नावें गंगाजी में चलती है। और उनके खेने वाले मल्लाह को हम पनसुइया वाला, पटेलेवाला, भौलियावाला आदि नामों से पुकारते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति संस्कृत भाषा में भिन्न प्रकार की नावों के आधार पर बने हुये नाविक वाची शब्दों की थी। भास्त्रिक, औत्संगिक, औडुपिक आदि का अर्थ इस पृष्ठभूमि में ठीक प्रकार समझा जा सकता है। उत्संग भी एक प्रकार की छोटी नाव होती थी। इसी प्रकार उडुप, उत्पथ और पिटक नावों के नाम थे। भस्त्रदिगण में भरट् शब्द का पाठ है, जो सम्भवतः लकड़ी के लट्ठों को बांधकर बनाया जाता था, जिसे भरड़ा कहते हैं।पिटक भी एक प्रकार की नाव थी जो घड़ों को उलटकर उनकी गर्दन में बांधकर एवं उसके ऊपर चारपाई बिछाकर बनाई जाती थी, इसे ही कहीं—कहीं घरनई या घण्डेल भी कहते हैं। वाल्मीकि रमायण में लट्ठो को बांधकर बनाये हुये प्लव या बजरे का उल्लेख है जिसे संघाट कहा गया है।[१] उडुप एक आदमी से चलायी जाने वाली छोटी डोंगी प्रतीत होती है।

शकट ४/४/८०

बोझा ढोने की बड़ी गाड़ी या सग्गड़ को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैल को शाकट ४/४/८० कहते थे। जो बैल जिस

१. रामायण, अयोध्याकाण्ड ५५/१४, १८

प्रकार की गाडी खीचता था उसी के अनुसार उसका नाम पड जाता था और उसके लिये रातिब और खातिर का प्रबन्ध उसी प्रकार किया जाता था। पतञ्जलि ने शकट सार्थ का उल्लेख किया है। प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पाच–पाच सौ छकडो पर माल लादकर सार्थवाह लोग लम्बी–लम्बी यात्राये करते थे। यह सब दृढ ठुके हुये शकट एव खीचने वाले धुरन्धर बैलो की कृपा पर निर्भर था।

आश्वीन अश्वस्यैकाहगम ५/२/१६

एक घोडा एक दिन मे जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कही जाती थी। अथर्ववेद तीन योजन और पाच योजन के बाद आश्वीन दूरी का उल्लेख है।[१] अर्थशस्त्र मे आश्वीन दूरी की लम्बाई का निश्चय किया गया है क्योकि सरकारी नौकरो के भत्ते आदि के लिये इसकी आवश्यकता पडती थी।[२] इस प्रकार अर्थशास्त्र मे साधारण सवारी के घोडे की एक दिन की दूरी पाच योजन और वाहक की छह योजन कही गयी है। यह बात अथर्ववेद के उस प्रमाण से भी मेल खाती है जिसमे आश्वीन दूरी को पाच योजन से कुछ अधिक कहा गया है। (१ योजन=५५/४४ मील)।

---

१ यत् धावसि त्रियोजन पञ्चयोजनमाश्विनम्–अथर्व० ६/१३१/३

२ अर्थशास्त्र २/३०

चतुर्थ-सोपान

चतुर्थ-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दो से परिलक्षित आर्थिक जीवन

कृषि एव पशुपालन

खेती के लिये सूत्रो मे कृषि शब्द है मूलत कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना जैसा महाभारत मे भी पाया जाता है—बिक्री की वस्तुओ मे वह अच्छी है जो दुकान मे सजी हो खेती की सभी क्रियाओ मे हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल की निराई उत्तम है वाहनो मे बैल का वाहन सर्वोत्तम है।[१] कात्यायन एव पतञ्जलि ने कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया— कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नही अपितु बीज बैल एव कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत है।[२] सूत्रो मे कृषि जीवन के सम्बन्ध मे कई प्रकार के शब्द है—हलि (एक प्रकार का बडा हल ३/१/११७) हल ३/२/१८३ ४/४/८१ हलयति (हल चलाना ३/१/२१) मूलाबर्हण ४/४/८८ कर्ष ४/४/६७ वाप (वुआई ५/१/४५) कृषीवल शब्द ५/२/११२। खेती करने वाले किसान के लिये कृषिवल शब्द चलता था। कृष्यासुति परिषदो वलच् ५/२/११२। इस नये शब्द ने कृषि शब्द को हटा दिया था। कीनाश शब्द भी इस समय प्रचलन मे नही रह गया था।

---

१ **पण्यांना शोभन पण्य कृषीणा वाद्यते कृषि।**
बहुकार च सस्याना वाहयेवा हय तथा गवाम्।। शान्तिपर्व १८६/०

२ नाना क्रिया कृषेरर्था नावश्य कृषिर्विलेखन एव वर्तते। कि तर्हि प्रतिविधानेऽपि वर्तते यदसौ भक्तबीज बलीवर्दै प्रतिविधान करोति स कृष्यर्थ —भाष्य ३/१/२६

व्राह्मण ग्रन्थो मे कृषीवल शब्द नही मिलता है। कृषि एव पशुपालन से सम्बन्धित शब्दो का जो प्रयोग पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे किया है प्रस्तुत सोपान के इस उपखण्ड मे उनका अध्ययन किया जा रहा है।

कृषिकर्म

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार खेती का पूरा स्वरूप यह है— कृषन्त वपन्त लुनन्त मृणन्त शतपथ १/६/१/३ अर्थात जोतना बोना काटना मणनी करना। प्रत्येक के विषय मे सूत्रो की सामग्री इस प्रकार है —

हलयति

हलि गृह्णाति हलयति ३/१/२१। भाष्य मे लिखा है कि किस प्रकार से खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता और उसके मजदूर पाच—पाच हलो से उसके लिये खेत जोतते थे।[1] जोतने के लिये कृष धातु थी। आजकल हिन्दी मे काढना खैचना दोनो क्रिया जोतने के अर्थ मे भी व्यवहृत होती है। खेतिहर कमेरो को क्षेत्र स्वामी उचित समय पर भक्त या भात (भोजन) देता था।

यूनानी लेखक भारत मे आने पर यहा की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानो के कौशल देखकर चकित हुये थे। उन्होने जुताई के विषय मे लोगो की सावधानी का भी उल्लेख किया है। पाणिनीय व्याकरण मे भी इसका सकेत मिलता है कि खेत की जुताई करने या भूमि कमाने मे किसान कितना श्रम करते थे। दो बार की जुताई को द्वितीया करोति एव तीन बार के लिए तृतीया करोति ५/४/५८ शब्द प्रचलन मे थे। उससे भी गहरी फाड के लिये हल को उल्टा चलाते थे जिसके लिये शम्बाकरोति ५/४/५८ शब्द था।[2]

---

१ एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पञ्चभिर्हलै कृषतीति।
तत्र भवितव्य पचभिर्हले कर्षयतीति। ३/१/३६ वा० ३

२ अनुलोमकृष्ट क्षेत्र पुन प्रतिलोम कृषतीत्यर्थ काशिका

वाप ३/१/१२६

जुताई के बाद खेत बोने लायक (वाप्य) हो जाता है। ३/१/१२६ सूत्र मे आवश्यक अर्थ मे ण्यत् प्रत्यय का विधान है। पहले खेत को दो तीन बार जोतकर छोड देते है फिर जब बुआई का समय आता है तब जोतकर बीज डालते है। ऐसा ही खेत वाप्य कहलाता है। किसानो का मानना है कि जिस प्रकार ऋतु पर गाय–भैस हरी होने को व्याकुल होती हैं उसी प्रकार धरती भी। कृषि कर्म का सम्बन्ध माता भूमि से है।

उसके लिये शुभ मुहूर्त देखकर बुआई की जाती है। पाणिनि ने आश्वयुजी पौर्णमासी का बुआई के सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेख किया है (आश्वयुज्या वुञ ४/३/४५)। उस दिन बोये हुये उडद आश्वयुजक माष कहलाते थे। कौटिल्य ने भी मूग उडद आदि छीमी धान्य को मध्यवाप अर्थात् आषाढ एव कार्तिक के बीच की बुआई के योग्य माना है।[1] उप्ते च ४/३/४४ सूत्र के उदाहरण मे हेमन्त जौ और ग्रैष्म व्रीहि का उल्लेख है।

क्षेत्रकर ३/२/२१

खेत बनाने वाला यह उस अधिकारी की सज्ञा थी जो खेतो की नाप जोख करता था। मेगस्थनीज ने ऐसे राजपुरूषो का उल्लेख किया है जो भूमि की लगान निश्चित करने अर्थात् बन्दोबस्त के लिये खेतो की नाप–जोख करते है।[2] जातको मे जिसे रज्जुग्राहक कहा है यह वही होना चाहिये। उसका पद अमात्य का था। वह अपनी रज्जु के एक छोर पर खूटा गाडकर और दूसरा सिरा क्षेत्रपति को पकडाकर खेत की माप करवाता था।[3]

---

१ अर्थशास्त्र २/२४

२ प्राचीन भारत–बी एन पुरी पृ० १६८

३ कुरूधम्म जातक ३/२७६

लवनी

लवनी को अभिलाव कहते थे ३/३/२८। जो खेत कटाई या लवनी के लिये बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था। लवनी दात्र या लवित्र से की जाती थी। आजकल खेतिहरो की भाषा मे इसे लाव कहते है। लाव के समय खेतो मे बडी चहल–पहल रहती है। कटाई करने वाले लावक या लवक कहलाते थे। कटाई शुरू होने को बाड लगना कहा जाता है (खेत मे बाड लग गई वृध–काटना)। कही–कहीं यह बाड एक ओर से न करके छिट–पुट की जाती है कभी–कही कभी कही। इसे उपस्किरति कहते है (किरतौ लवने ६/१/१४०)। मद्र और काश्मीर मे कटाई की ऐसी ही चाल थी।[1] मूग माष जैसी दलहन फसलो के पौधो को जड से उखाडकर लवनी की जाती है। मूलमस्या बर्हि ४/४/८८

वृत्ति

वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि वाणिज्य पशुपालन आदि मनुष्यो की जीविका के साधन या वृत्तियो से है। जनपदो मे फैले हुये आर्थिक जीवन के इस ताने–बाने के लिये जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था ४/१/४२। इस अर्थ मे जानपदी वृत्ति का उल्लेख पाणिनि से पहले यास्क ने किया है– 'जानपदीषु विद्यात पुरूषो भवति अर्थात जनपद सम्बन्धी वृत्तियो या शिल्पो मे कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरूष विशेष समझा जाता है निरूक्त १/१६। ध्यातव्य यह है कि यास्क ने जानपदी शब्द को विशेष्य मानकर उसका प्रयोग किया है।

वर्षा या प्रावृट्

४/३/१८ ४/३/२६ ६/३/१४–बरसात को प्रावृट और वर्षा कहा गया है। वर्षा के पूर्व भाग के लिये प्रावृट विशिष्ट शब्द था।

---

१ उपस्कार मद्रका लुनन्ति उपस्कम काश्मीरका लुनन्ति– काशिका ६/१/१४०

श्रावण भाद्रपद के महीनो मे पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था (अवयवादृतो ७/३/११) वृष्टि की नाप वर्ष प्रमाण कही जाती थी ३/४/३२। वह दो तरह की थी पहली जिसमे खेत की कूडे पानी से लबालब भर जाय और सारे खेत मे पानी उतिराने लगे—सीतापूर वृष्टो देव दूसरी जिससे खेत मे पडे हुये खुर के निशान मात्र पानी से भरे—गोष्पदपूर वृष्टो देव भाष्य २/४/३३ पर। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रयोग मे गोष्पद से प्रमाण लिया जाता था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत मे दो बार वृष्टि एव दो फसले होती थी।[1] पाणिनि ने भी वासन्तकग्रैष्मक (खरीफ) और आश्वयुजक (असौज मे बोई जाने वाली और वसन्त मे पकने वाली रबी) फसलो का उल्लेख किया है। ४/३/४५, ४/३/४६।

उमा-भङ्गा ४/३/१५८

अष्टाध्यायी मे उमा और भगा का उल्लेख धान्य के प्रकरण मे आया है। उमा और भगा अर्थात अलसी और भाग के खेतो का उल्लेख है। कौटिल्य ने इसकी जगह अतसी एव शण कहा है। उमा या अलसी से बने हुये वस्त्र औम या औमक और ऊन से बने हुये और्ण या और्णक कहलाते थे। कपास का उल्लेख किसी सूत्र मे नहीं है।

पाणिनि के अतिरिक्त कुछ अन्य वैयाकरण इन्हे धान्य मानने पर आनाकानी करते थे। पतञ्जलि ने मध्य की भूमिका के साथ लिखा है कि धान्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करे तो धान्य वह है जिसकी बढिया फसल देख कर चित्त प्रसन्न हो जाय सो उमा भग से भी चित्त प्रसन्न होता ही है अतएव इन्हे धान्य मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। वस्तुत सत्य यह था कि प्राचीन काल मे जो मुख्य फसले होती थीं उनकी गणना करके सत्रह धान्यो की सूची बना ली गई थी जिसमे सन भी था। अतएव पाणिनीयसूत्र के लिये उमा या भगा को धान्य मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

---

१ प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन—रोमिलाथापर पृ० ७८

सीता-४/४/९१

यह शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन सहिताओ मे कृषि के देवता और हल की कूड या फाड के लिये प्रयुक्त हुआ है। शनै शनै पहला अर्थ विलुप्त हो गया। अर्थशास्त्र मे केवल एक स्थान पर पुराना अर्थ है।[1] शेष स्थानो मे सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है।[2] अष्टाध्यायी मे इस प्रकार का कोई विशिष्ट अर्थ नही मिलता। सीत्य उस खेत को कहते थे जो हल की जोत मे आ गया हो।[3]

सास्य देवता प्रकरण ४/२/२४—३३ मे शुन और सीर नामक प्राचीन देवताओ का उल्लेख है। कुछ लोग इन्हे वायु और आदित्य का और कुछ उन्हे लकडी का हल और उसके अग्रभाग मे लगी हुई कुशी मानते थे। (वैदिक इण्डेक्स २/३८६)। इन देवताओ को दी जाने वाली हवि शुनासीरीय या शुनाशीर्य कहलाती थी।

हल्य-हलस्य कर्ष हल्य ४/४/९७ काशिका

एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी। इसी सूत्र के उदाहरण मे द्विहल्य त्रिहल्य अर्थात् एक हल की माप से दुगुनी तिगुनी का भी उल्लेख है। वस्तुत एक परिवार के भरण—पोषण के लिये पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे मध्यकाल मे इसे ही दोहली या डोहली कहने लगे जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने कुल परिमाण भूमि का उल्लेख किया है।[4] कुल्लूक के अनुसार यह दोहल जाति की भूमि थी। इसीलिये दान मे दोहली भूमि देने की प्रथा चली

---

१ सीता मे ऋध्यता देवी बीजेषु च धनेषु च। अर्थ० २/२४

२ अर्थ० २/१५

३ सीतया सगत क्षेत्रम सीत्यम् ४/४/९१ काशिका

४ मनु० ७/११९

जो एक कुटुम्ब के गुजारे के लिये पर्याप्त हो। एकहल धरती की माप पचीस सहस्र वर्ग हाथ ($1^1/_3$ एकड) मानी जाती थी इस हिसाब से द्विहल्य $2^2/_3$ एव त्रिहलय पूरे चार एकड होती थी। महामाष्यकार पतञ्जलि ने हल्य भूमि के अतिरिक्त परमहल्या का भी उल्लेख किया है जो अवश्य ही उससे भी बडा क्षेत्रफल होना चाहिये। इसी प्रकार सीत्य और परमसीत्य का भी भाष्य मे उल्लेख है।

व्रैहेय शालेय ५/२/२

व्रीहि और शलि के खेत पृथक–पृथक होते थे जो व्रैहेय एव शालेय नामो से पहचाने जाते थे। व्रीहि बरसात मे बोया जाने वाला धान था जो कार्तिक मे तैयार होता था। जिसके यहा व्रीहि या धान की उपज अच्छी होती थी उसे व्रीहिमान् व्रीहिक या व्रीही कहते थे। इन शब्दो से जनपदीय ससार के धनी व्यक्ति का बोध होता था। व्रीहिमान के लिये ही बहुव्रीहि शब्द पहले प्रचलित था जो पीछे समास का नाम मान लिया गया। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार व्रीहि शरद मे पककर तैयार होता था।[1]

अर्थशास्त्र मे शालि को व्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाडकर फिर से रोपा जाने वाला जडहन था। शालि की फसल शीत ऋतु मे पकती थी।[2] शालि की अपेक्षा व्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नो मे सर्वप्रथम मानते थे।[3] पतञ्जलि ने लोहित शालि का उल्लेख किया है।[4] आज भी भदई धानो मे कई धान लाल होते है। ऐसे ही शालि या अगहनी धानो मे भी कई प्रजातिया लाल होती है। एक प्रजाति बगरी का छिलका काला पर चावल लाल होता है।

---

१ तैत्तिरीय सहिता ७/२/१०/२

२ खर्जूरपुष्पाकृतिभि शिरोभि पूर्णतण्डुलै।
शोभन्ते किञ्चिदालम्बा शालय कनकप्रभा।।–रामायण–अरण्यकाण्ड १६/१

३ यजुर्वेद २८/१२ वृहदारण्यक उपनिषद् ६/३/१३

४ भाष्य २/१/६६ वा० ५

महाव्रीहि पाणिनि के समय मे प्रसिद्ध धान्य था जिसका उल्लेख तैत्तिरीय सहिता मे भी आया है।[1] कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था। कोई फसल साठ दिन मे पकने से साठी नही कही जा सकती। (षष्ठिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ५/१/९०)।

अन्य धान्यो मे जौ मूग माष तिल अणु कुलत्थ का उल्लेख है। यवानी को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है। मुद्ग और माष का उल्लेख पाणिनि से पहले ही वाजसनेयी सहिता मे आता है।[2] माष के खेत माष या माषीण कहलाते थे। देहातो मे आज भी इस फसल को मासीना कहते है। मूलमस्यावर्हि ४/४/८८ पर काशिका मे मुद्ग और माष को मूल्य कहा है। पकने पर इनके पौधे जड से उखाड लिये जाते थे और फिर उनकी फलिया झाड ली जाती थी। जौ उडद और तिल के लिये जो खाद या खेत अच्छा हो उसे यव्य माष्य या तिल्य कहा जाता था। भाष्य मे कृष्ण तिलो का नाम है। पाणिनीय मे काले या सफेद तिलो का अलग-अलग उल्लेख नहीं है पर श्राद्ध कर्म मे उपयोगी तिलो का नाम आया है जो प्राय काले होते है। मूल मे तैल शब्द तिल के तेल के लिये ही प्रयुक्त होता था- असञ्ज्ञाया तिलयवाभ्या ४/३/१४६ किन्तु बाद मे वैयाकरणो ने सर्षप तैल इगुदी तैल इन प्रयोगो को भी समीचीन माना है।[3] तैल शब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्य अर्थात् तैल शब्द का प्रयोग प्रत्यय के समान किया जाने लगा। षष्टिक की भॉति कुलत्थ (हिन्दी कुलथी) शब्द भी पहली बार ही अष्टाध्यायी मे आया है। इसकी दाल या सत्तू बनाकर खायी जाती थी इसकी दाल या सत्तू बनाकर खायी जाती थी किन्तु पाणिनि ने तडका आदि देने के लिये सस्कारक द्रव्यो मे उसका उल्लेख किया है। कुलत्थकोपधादण् ४/४/४।

---

१ तैत्तिरीय सहिता ३/१/५/२

२ वाजसनेयि सहिता १८/१३

३ भाष्य ५/२/२९

वाणिज्य–व्यापार

वाणिज्य

व्यापार के सम्बन्ध मे सूत्रो मे पर्याप्त सामग्री मिलती है ये शब्द विशेष ध्यातव्य है –

वाणिज्य ३/३/५२, ६/२/१३

व्यापारियो के लिये वणिक और वाणिज ये दोनो शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज कहलाता था। वैश्यो के लिये यह शब्द सीमित न थ जैसे– मद्रवाणिज मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियो के नाम कई कारणो से पडते थे उनके व्यवसाय की विशेषता से व्यापार की वस्तुओ से पूजी के आधार पर अथवा वे जिन देशो से वाणिज्य करते हो उनके नाम से। सूत्रो मे इन सबका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

क्रय विक्रयिक ४/४/१३

वस्नक्रय विक्रयाटठन क्रय विक्रयेण जीवति। वह व्यापारी था जिसका मुख्य काम खरीद–फरोख्त था। यह थोक व्यापारी हुआ जो सामान एक जगह भरकर दूसरी जगह ले जाकर बेचता था वस्निक उस व्यापारी की सज्ञा होती थी जो रोकड– पूजी व्यापार मे लगाता हो चाहे स्वय देखभाल न भी करता हो। एक प्रकार से क्रय–विक्रयिक और वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूजी लगती थी जबकि दूसरा मुख्यत काम–काज देखता था। पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के व्यापारी को सास्थानिक कहा है (सस्थाने व्यवहरति ४/४/७२) सस्थान का अर्थ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य

है। प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन की तीन मुख्य सस्थाये थी। शिल्पियो के सगठन को श्रेणी व्यापारियो के सगठन को निगम और एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करनेवाले व्यापारियो को सार्थवाह कहते थे। सार्थवाह और श्रेणी दोनो ही महाभारत मे प्रयुक्त हुये है। पाणिनि मे सार्थवाह शब्द का प्रयोग नही मिलता किन्तु व्यापार की यह विधि उस समय भी अवश्य ही विद्यमान थी। विचार करने से अनुमान होता है कि पाणिनि का सास्थानिक शब्द सार्थवाह के लिये प्रयुक्त हुआ है। सार्थ या समूह मे व्यापार करने वाले लोगो को सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सास्थानिक कहा जाता हो ऐसी सम्भावना है। (सस्थान=समूह)

व्यापारिक वस्तुओ के नाम से भी व्यापारी प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे– अश्ववाणिज गोवाणिज। इसी प्रकार उन देशो के नाम से जिनके साथ वे प्राय व्यापार करते थे व्यापारियो का नाम पडता था। (गन्तव्य पण्य वाणिजे ६/२/१३)। व्यापारियो मे जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे वे औरो की तुलना मे परमवाणिज या उत्तमवाणिज्य कहलाते थे। इन उदाहरणो–काश्मीरवाणिज मद्रवाणिज गान्धारिवाणिज से सकेत मिलता है कि अन्तर्प्रान्तीय व्यापार होता था।

आपण ३/३/११६

दुकान या बाजार के लिये आपण शब्द था।[१] बिक्री की वस्तुए पण्य या पणितव्य कहलाती थी ३/१/१०१। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला मे रखी हो बिक्री के निमित्त तो वह भी पण्य हो सकती थी किन्तु जो वस्तुए बिक्री के निमित्त दुकान मे सजाकर रखी जाती थी उनके लिये क्रय्य शब्द प्रयुक्त होता था।[२] महाभारत मे क्रय्य के विशिष्ट अर्थ मे पण्य का भी व्यवहार हुआ है

---

१ एत्य तस्मिन् आपणन्त इत्यापण–काशिका ३/३/११६

२ क्रय्यस्तदर्थे ६/१/८२

जैसे पण्याना शोभन पण्यम[1] का अर्थ यह है कि जो बिक्री की वस्तुये हो उनमे वे उत्तम है जो उस निमित्त से पाण्य रूप मे दूकान या बाजार मे सजायी हुई है सूत्र का क्रय्य शब्द ठीक उन्हीं के लिये है।

व्यवहार ४/४/१३, ४/४/५१

वाणिज्य–व्यापार के लिये सामान्यत शब्द व्यवहार प्रचलन मे था। उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय–विक्रय है। ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार आयात–निर्यात सम्बन्धी व्यापाक व्यापार के लिये और पण स्थानीय क्रय–विक्रय के लिये प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दुकान या बाजार मे क्रय–विक्रय के लिये प्रदर्शित वस्तुये पण्य कहलाती थी।

मूल और लाभ ४/४/९१, ५/१/४७

पूजी मूल थी। लाभ सुहित पूजी या लागत को मूल्य कहते थे।[2] लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है। ४/४/९१ सूत्र मे पाणिनि ने दो मूल शब्द का प्रयोग किया है जिसमे प्रथम मूल का अर्थ मूलेन आनाभ्यम् है जबकि द्वितीय मूल का अर्थ मूलेन सम मूल्यम। पहले मूल्य का अर्थ है लागत और लाभ दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुलय हो अर्थात उसमे जो लागत आई है उसके अनुरूप या बराबर कीमत की हो।

भाषा मे ऐसे शब्द भी प्रचलन मे थे जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की बिक्री से कितना लाभ हुआ है–तदस्मिन वृद्धयाय– लाभशुल्कोपदा दीयते ५/१/४७ जैसे पचक सप्तक शत्य– शतिक साहस्र जिसमे पाच सात सौ या हजार कार्षापण का लाभ हो।

---

१ महाभारत शान्ति पर्व १८६/२०

२ पटादीना उत्पत्तिकारण मूलम् मूल्य हि सगुण मूलम–काशिका ४/४/९१

शुल्क ५/१/४७

व्यापारियो के माल पर जगह जगह चुगी लगती थी जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पडता था उसके आधार पर व्यवहार मे माल का नाम पड जाता था जैसे—पचक अर्थात् वह माल जिस पर पाच कार्षापण चुगी लगी हो और इसी प्रकार सप्तक सहस्रक आदि। चुगीघर को शुल्कशाला और वहा से प्राप्त होने वाली आय को शौलकशालिक कहा जाता था। शुल्कशाला राज्य के लिये प्रमुख आयस्थान थी। वस्तुत शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओ मे सुक हुआ जिससे बिगड कर चुगी शब्द बना होगा ऐसा मेरा मन्तव्य है। छोटे या फुटकर माल पर चुगी की रकम कम ही होती थी जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुगी लगे उसके लिये चुगी की भाषा मे अर्धिक या भागिक—ये दो शब्द प्रचलित थे।[1]

पाणिनि ने पूर्व देश मे परम्परा से चले आते हुये कुछ करो का उल्लेख किया है जिन्हे वहा की भाषा मे कार कहते थे—कारनाम्नि च प्राचा हलादौ ६/३/१०। भाष्य मे अविकटोरण उदाहरण मे कहा गया है कि भेडो के प्रत्येक झुण्ड या रेवड के पीछे एक भेड चुगी वसूल की जाती थी। काशिका मे दो उदाहरण और भी है—यूथपशु अर्थात् एक झुण्ड या हेडे के पीछे एक पशु चुगी नदी दोहनी अर्थात नदी का घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुगी वसूल किया जाता था।

साई या सत्यापयति ५/४/६६—बाजार मे किसी चीज की बिक्री पक्की करने के लिये दुकानदार ग्राहक से कुछ साई लेता था। इसके लिये सत्याकरोति एव सत्यापयति ये दो शब्द भाषा मे प्रचलित थे। साई का उद्देश्य जैसा काशिका ने लिखा है ग्राहक की ओर से सौदा पक्का करना था—मयैतत् क्रेतव्यमिति तथ्य करोति। पक्का करने की क्रिया को सत्यकार[2] कहते थे—कारे सत्यागदस्य ६/३/७०।

---

१ पूरणार्धटठन ५/१/४८ भागाद् यच्च ५/१/४६ भागिक का दूसरा रूप भाग्य भी था। अर्ध और भाग शब्द का अर्थ आधा कार्षापण या अठन्नी होता था।

२ याज्ञवल्क्य स्तृति २/६१ मे सत्यकार कृतम्।

मुद्राएँ

इस प्रकरण मे कई सोने चादी और ताबे की मुद्राओ का उल्लेख है जो उस समय व्यवहार मे काम आती थी। बाजार मे माल खरीदने के लिये सिक्को का चलन आम बात थी। पहले की उस स्थिति से लोग आगे बढ गये थे जिसमे वस्तु विनिमय ही व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओ का मूल्य दुकानदार और ग्राहको के बीच मे सिक्को मे ही चुकाया जाता था। इसके बडे सौदे भी होते थे जैसा पाणिनि ने उल्लेख किया है। जो सामान एक सहस्र कार्षापण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था ५/१/२७। हर बडी सख्या से भाषा मे शब्द नही बना करता पर शत और सहस्र ऐसी सख्याये है जो प्राय भाषा मे व्यवहृत होती हैं अतएव उनके सम्बन्ध मे ही शत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गये। बाजार मे सोने के निष्क से लेकर ताबे के माष तक बीसियो प्रकार के सिक्के चलते थे। उनके आधार पर छोटे–बडे मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओ के लिये बहुत से शब्द लोक मे प्रचलित थे।

निष्क ५/१/२०, ५/१/३०, ५/२/११९

निष्क वैदिक युग मे एक आभूषण था जो सोने का बना होता था। वैदिक सहिताओ की सामग्री से निश्चित रूप से निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव है कि गहने की तोल और आकृति व्यवहार मे निष्क की निश्चित मान की गई हो और तब लेन–देन या अदला–बदली या गिरवी रखने मे निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

वाद के युगो मे निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गई थी ऐसा निश्चित ज्ञात होता है। जातक महाभारत और पाणिनि तीनो की सामग्री का एक ही ओर सकेत है। अष्टाध्यायी मे निष्क का वर्णन तीन सूत्रो मे है–

असमासे निष्कादिभ्य ५/१/२०

इसका अर्थ यह है कि निष्क पण पाद और माष जब समास मे न हो तब तेन क्रीतम् इस अर्थ मे ठक प्रत्यय हो जाता है। निष्क मे ठक प्रत्यय लगाकर नैष्किक शब्द कराया जाता है। पाणिनि के समय मे जिस नैष्किक शब्द का प्रयोग होता था उसका अर्थ था एक निष्क से मोल ली हुई वस्तु। इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से ठक प्रत्यय का विधान किया। मुद्राशास्त्र की दृष्टि से तथ्य यह थ कि निष्क पाणिनिकाल मे प्रचलित एक सिक्का था। इसी तरह पण से पाणिक पाद से पादिक और माष से माषिक इन शब्दो का प्रयोग होता था। पतजलि के भाष्य मे एक स्थान पर ऐसा भी उदाहरण है जिससे नैष्किक शब्द का दूसरा अर्थ भी मालूम होता है।[१] ब्राह्मण की योग्यता या गुण–परिप्रश्न के विचार के समय कहा जाता था कि यह ब्राह्मण सौ की दक्षिणा के योग्य है यह सहस्र की या यह एक निष्क की। सम्भवत यज्ञ आदि कर्मो मे ब्राह्मणो को निमन्त्रित करते समय इस प्रकार के विशेषणो से ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा का अनदाजा लगाया जाता था। शत्य ब्राह्मण की योग्यता सौ चादी के कार्षापणो के योग्य थी। साहस्र ब्राह्मण को एक सहस्र कार्षापण यज्ञ–दक्षिणा मे या राजा के यहा उपहार मे मिलता होगा।

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ५/१/३०

निष्क के प्रचलित सिक्के होने की बात को यह सूत्र और भी पुष्ट करता है। कुछ वस्तुये दो निष्क और कुछ तीन निष्क के मूल्य से ली जाती थी। व्याकरण की दृष्टि से विकल्प लोप के द्वारा इन दोनो के लिये ये प्रयोग बनते थे –

---

१ किमय ब्राह्मणोऽर्हति ? शतमर्हति शत्य। शतिक। साहस्र। नैष्किक इति न सिध्यति–महाभाष्य सूत्र ५/१/१६ न सिध्यति शब्द व्याकरणशास्त्र के पूर्वपक्ष की उत्थापना के लिये है।

द्विनिष्कम् द्विनैष्किकम्

त्रिनिष्कम् त्रिनैष्किकम्

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ५/२/११६

पाणिनि के समय मे सौ निष्क की हैसियत वाला व्यक्ति नैष्कशतिक (निष्कशतमस्यास्तीति) और एक सहस्र निष्क वाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था। व्यापारिक समृद्वि के उस युग मे व्यक्ति विशेष के आढयभाव या आर्थिक प्रतिष्ठा का निर्देश करने के लिये ये वास्तविक पदविया थी। नगर की समृद्वि का अनुमान नागरिको की अमीरी से लगाया जाता था। इस आख से भी उस समय भिन्न–भिन्न नगरो के निवासियो को देखने की प्रथा थी। पतञ्जलि का यह वाक्य कि मथुरा के रहने वाले पाटलिपुत्र के निवासियो से अधिक धनी है इसी प्रकार के समाजिक व्यवहार की ओर सकेत करता है।[1] महाभारत मे भी सौ निष्क और सहस्रनिष्क वाली सम्पत्ति का उल्लेख आया है।[2] पतञ्जलि ने निष्कधन और शतनिष्कधन शब्दो का उल्लेख किया है।[3] महाभारत के अनुसार १०८ सुवर्ण मुद्राओ के साथ निष्क उस समय धन की एक इकाई मानी जाती थी।[4] काशिकाकार ने यह प्रश्न किया है कि निष्कशत और निष्कसहस्र पद से पूर्व मे सुवर्ण पद क्यो न जोड लिया जाय जिससे यह मालूम हो सके कि किस धातु के निष्क उस व्यक्ति के पास है और इसका उत्तर भी काशिकाकार ने स्वय दिया है कि लोक मे इस तरह कहने की प्रथा नही है। भाषा तो लोक के पीछे चलने वाली है। जब निष्क सोने का ही होता है तो व्यर्थ मे सुवर्ण पद जोडने से क्या लाभ ? एव

---

१ माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्य आढयतरा–भाष्य ५/३/५७
साकाश्यकेभ्य पाटलिपुत्रका अभिरूतरा–भाष्य १/३/११

२ शतेन निष्कगणित सहस्रेण च सम्मितम्–महाभारत अनुशासन १३/४३

३ नहि निष्कधन शतनिष्कधनेन स्पर्धते–भाष्य ५/३/५५

४ साष्ट शत सुवर्णाना निष्कमाहुर्धन तथा–महाभारत द्रोण पर्व ६७/१०

पुन नैश्कशतिक पदवी मे जिस प्रतिष्ठा की ध्वनि है वह तो सुवर्णनिष्क से ही सम्भव थी न कि रौप्यनिष्को से। इसलिये भी नैष्क शतिक एव नैष्कसाहस्रिक जैसे प्रयोगो मे सोने का सिक्का लोक व्यवहार से समझ लिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। उद्दालक आरूणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये एक सुवर्णनिष्क की शर्त बदी थी।[1]

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी के मेल मे उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे ? जैसे आज पत्र मुद्रा का प्रचलन है सौ की नोट कागज की होती है तो पचास की भी और दस की भी। कुछ समय पहले तक अग्रेजी पौण्ड सोने का सिक्का था उसी के फुटकर सिक्के भी सोने के थे। इसी तरह उस समय भी निष्क के वाद अर्धनिष्क एव पादनिष्क का अनुमान होता है। पाणिनि ने इनका उल्लेख नही किया है जबकि पतजलि न किया है।[2] डा० भण्डारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ मे व्राह्मणो को दक्षिणा के लिये गायो की सींगो मे जो २० ००० पाद सिक्के बाधे थे (गोसहस्र के प्रत्येक श्रृग मे दस–दस पाद) वे सोने के ही थे। यह सम्भव है क्योकि उस यज्ञ को बहुदक्षिण कहा गया है। उनका यह भी अनुमान है पाणिनीय सूत्र ५/१/३४–पण पाद माष शताद्यत् मे जो पाद है वह भी सोने का ही सिक्का था। यह दूसरा अनुमान चिन्त्य है। पण कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढा जाने से पाद चादी के कार्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद का माष सिक्का ताबे का था। चादी के पण और ताम्र माष के बीच मे पढा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नही माना जा सकता।

---

१ शतपथ ११/४/१/८

२ निष्के चोपसख्यानम वार्तिक सूत्र ६/३/५६ के उदाहरण मे पादनिष्क का उल्लेख है।

त्रिशत्क ५/१/२४

पाणिनि के सिक्को की सूची मे विशतिक और त्रिशत्क ये दो नाम रहस्यमय है। पाणिनि ने जिस त्रिशत्क का उल्लेख किया है वह विशतिक का डेढ गुना था और उसका मूल्य अध्यर्धकार्षापण के बराबर रहा होगा। श्री दुर्गाप्रसाद जी को १०४ से १०५.७ ग्रेन या ५८ रत्ती के सिक्के मिले थे उनकी पहचान अष्टाध्यायी के त्रिशत्क से की गई है।

विशतिक ५/१/२७, ५/१/३२

शतमान विशतिक—सहस्र वसनादण् ५/१/२७ विशतिकात्ख ५/१/३२। पहले सूत्र मे बैशतिक (एक विशतिक से मोल लिया हुआ) और दूसरे से अध्यर्धविशतिकीन द्विविशतिकीन त्रिविशतिकीन (१$^{1}/_{2}$ २ ३ विशतिक से क्रीत) ये प्रयोग बनते है। विशतित्रिशद्भ्या डवुन्नसज्ञायाम् ५/१/२४ सूत्र के द्वारा असज्ञा मे विशक—त्रिशक और सज्ञा अर्थ मे पाणिनि ने विशतिक और त्रिशत्क पदो का विधान किया है। प्रसग से ये सज्ञाये सिक्को की जान पडती है। विशतिक शब्द बीस हिस्सो वाले सिक्के का सकेत करता है।

पाणिनीय सूत्र १/२/६४ पर पतञ्जलि ने लिखा है—अपरस्त्वाह। पुराकल्प एतदासीत षोडशमाषा कार्षापण षोडश पलाश्च माषशम्बटय। तत्रसख्यासामान्यात्सिद्धम—अर्थात् किन्ही आचार्य का मत है कि पूर्व समय मे सोलह माष का कार्षापण होता था और सोलह पल की एक माषशवटी होती थी तब दोनो माष शब्दो के साथ सोलह की सख्या का समान सम्बन्ध था। जिस आचार्य का यह पक्ष है उसके मत मे १६ माष वाला कार्षापण पुराकल्प की घटना थी। डा० शामशास्त्री का अनुमान है कि पुराकल्प वाला यह कार्षापण वही है जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे किया है। परन्तु

इससे यह अनुमान नही निकाला जा सकता कि कौटिल्य से पहले २० माषक वाले कार्षापण का अथवा कौटिल्य के बाद १६ माषकवाले कार्षापण का प्रचार नही था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही समय मे देशभेद से दोनो प्रकार के कार्षापण प्रचलन मे थे।

इन प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि २० भाग वाले कार्षापण का भी प्रचलन था। पाणिनि के विशतिक सिक्के का सम्बन्ध इसी बीस भाग वाले कार्षापण से था। इसी कारण उसकी एक विशेष सज्ञा पड गई थी। साथ ही १६ माषक वाला कार्षापण भी पाणिनि को ज्ञात था और व्यवहार मे वही अधिक प्रचलित भी रहा होगा।

विशतिक सिक्को के वास्तविक नमूने भी मिल गये है। कुछ लखनऊ सग्रहालय मे हैं। उनकी तोल ७०—८० ग्रेन तक है। उन पर आहत रूपो और बनावट के आधार पर यह निश्चित ज्ञात होता है कि वे ३२ रत्ती वाले कार्षापण सर्वप्रथम नन्दराजाओ ने चलाया था। उनके पूर्व विम्बिसार के काल मे ४० रत्ती वाले विशतिक का ही प्रचार था।

शतमान ५/१/२७

शतमान का नाम केवल एक सूत्र शतमान विशतिक सहस्रवसनादण् ५/१/२७ मे ही आया है जिसका अर्थ है शतमान विशतिक सहस्र और वसन—इन चार शब्दो से क्रीतादि अर्थो मे अण प्रत्यय होता है। शतमानेन क्रीतम् शतमानम् अर्थात शतमान मुद्रा से मोल ली हुई वस्तु के लिये शातमान पद का प्रयोग होता था।

पाणिनि ने यह नही कहा है कि शतमान सिक्का सोने का था पर शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि शतमान स्वर्णमुद्रा थी।[1]

१ तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा—शतपथ ५/५/५/१६
हिरण्य दक्षिणा सुवर्ण शतमान तस्योक्तम—शतपथ ८/२/३/२

पर समयक्रम मे शतमान का अधिक सम्बन्ध चादी के सिक्के से होने लगा। शतपथ मे कहा गया है देवता के दोनो रूपो के कारण विचित्रता के लिये सोने और चादी दोनो की दक्षिणा देनी चाहिये। यह दक्षिणा शतमान होनी चाहिये क्योकि मनुष्य की आयु १०० वर्ष होती है।[1] यहा सौ मान या भागो वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन स्रौत सूत्र सुवर्ण शतमान के साथ–साथ राजत शतमान का भी उल्लेख करता है।[2] अलग सौवर्ण शतमान का भी स्पष्ट उल्लेख है।[3] वैदिक सहिताओ मे ऐसा प्रमाण नहीं है कि शतमान सौ रत्ती का था पर सायण और कर्काचार्य ने उसकी यही व्याख्या की है।[4] सहिता ग्रन्थो मे कृष्णल या रत्ती तोल का प्राय उल्लेख आया है।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा गया है कि बाजपेय यज्ञ मे एक–एक कृष्णल या रत्तिका बाटी जाती थी। अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो। सौ रत्ती तोल का चादी का सिक्का १८० ग्रेन तोल मे रहा होगा।

शतमान मुद्रा कात्यायन के समय मे भी चलती थी। ५/१/२६ सूत्र पर एक वार्तिक मे डेढ शतमान का स्पष्ट नाम लिया है जैसे–वार्तिक–सुवर्णशतमानयोरूपसख्यानम् भाषम–अध्यर्धशतमानम अध्यर्धशातमानम। द्विशातमानम्। १ $^1/_2$ या दो शतमान से खरीदी हुयी वस्तु की उक्त सज्ञाये थी।

---

१ रजत हिरण्य दक्षिणा नानारूपतया शतमान भवति शतायुर्वै पुरूष –शत १३/२/३/२

२ द्वादश कपालन्निर्वपति भिन्नतन्त्रान शतमानदक्षिणान् मध्यमस्य राजत– का श्रौ २०/२/६

३ शतमान दक्षिणा सौवर्णम्–कात्यायन श्रौतसूत्र २०/१/२२

४ रक्तिका–शतमान–का०श्रो० १५/६/३०

५ मैत्रायणी सहिता २/२/२ तैत्तिरीय सहिता २/३ २/१

कार्षापण ५/१/२६

प्राचीन भारतवर्ष का सबसे प्रसिद्ध सिक्का चादी का कार्षापण था। इसे ही मनु स्मृति मे धरण और राजतपुराण भी कहा गया है।[१] पाणिनि ने इन सिक्को को आहत ५/२/१२० कहा है उसी के अनुसार अग्रेजी मे ये Punch Marked पचमार्क्ड के नाम से प्रसिद्ध है। ये सिक्के बुद्ध से भी पुराने है और भारतवर्ष मे ओर से छोर तक पाये जाते है। अब तक लगभग पचास सहस्र से भी अधिक चादी के कार्षापण प्राप्त हुये है। कौटिल्यीय अर्थशास्त्र मे कार्षापण ही प्रचलित सिक्का था पर वहा सर्वत्र इसका सक्षिप्त नाम पण दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चादी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और ताबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था। उसके बराबर तोल के सोने के सुवर्ण और ताबे के कार्षपण सिक्के की तोल भी ८० रत्ती होती थी।

जहा कार्षापण इतना प्रचलित सिक्का था वहा यह स्वाभाविक है कि उससे सम्बन्ध रखने वाले छोटे सिक्के भी प्रचलित हो। फुटकर सिक्को की सूची अष्टाध्यायी के अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मिलती है।[२] अष्टाध्यायी मे कार्षापण (अपर नाम पण) अर्ध (भाग) पाद त्रिमाष अध्यर्ध (१$^{१}/_{२}$) माष माष एव अर्धमाष का वर्णन है। कात्यायन ने इसमे काकणि एव अर्धकाकणि नाम और जोडे है।

---

१ द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक। –मनु० ८/१३५
ते षोडश स्याद् धरण पुराणश्चैव राजत। –मनु ८।१३६

२ अर्थशास्त्र २/१२
पणम् अर्धपणम् पादम अष्टभागम इति। पादाजीव ताम्ररूप माषकम् अर्धमाषकम काकणीम् अर्धकाकणीमिति। अर्थात–चादी केसिक्के–पण अर्धपण पाद अष्टभाग ताबे के सिक्के–माषक अर्धमाषक काकणी अर्धकाकणी। ऐसा प्रतीत होता है कि ताबे के सिक्को मे माषक से ऊपर ताबे का १/४ पण १/२ पण और पण नामक सिक्के भी थे।

पण ५/१/३४

मनुस्मृति के आधर पर यह अनुमान किया जाता है कि चादी के सिक्के का पूरा नाम कार्षापण और ताबे के कर्ष का नाम पण रहा होगा।[१] ताबे का कार्षापण जो तोल मे एक कर्ष (८० रत्ती) हो पण कहलाता है। पाणिनीय सूत्र पर कात्यायन ने कार्षापण का एक नया नाम प्रति दिया है। एक कार्षापण मे मोल ली हुयी अर्थात प्रति कार्षापण के हिसाब वाली वस्तु को प्रतिक कहने लगे थे। यही कात्यायन के वार्तिक की ध्वनि है जिससे प्रतिक पद सिद्ध किया गया है।[२] कार्षापण का पण नाम उसके प्रचलित सिक्का होने की बात को और अधिक पुष्ट करता है।

पादकार्षापण ५/१/३४

चौथाई कार्षापण का नाम पाद था। पणपादमाषशताद्यत ५/१/३४ मे पाद शब्द इसी के लिये प्रयुक्त जान पडता है। सूत्र १।३।७२ के भाष्य मे पतञ्जलि ने लिखा है –

कर्मकरा कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति।–भाष्य अर्थात मजदूर इसलिये काम करते है कि दिन भर की मजदूरी एक पादिक (पावली) हमे मिल जायेगी। इससे ज्ञात होता है कि शुगकाल मे मजदूरो की प्रतिदिन मजदूरी १/४ कार्षापण अर्थात् आठ रत्ती चादी के बराबर थी।

द्विपदिका और त्रिपदिका प्रयोगो का उदाहरण काशिका ने और भी कई सूत्रो ६/२/६५, ६/३/१० ६/४/१३० की व्याख्या मे दिया है। ये स्वतन्त्र सिक्के न थे बल्कि दो और तीन पदो के वाची

---

१ कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिक कार्षिक पण।–मनु० ८।१३६

२ वा– कार्षापणद्वा प्रतिश्च।
भाष्य कार्षापणाट टिठन् वक्तव्यो वाच प्रतिरादेशो वक्तव्य कार्षापणिक कर्षापणिकी। प्रतिक प्रतिकी।

है। जैसे–द्विपदिका दण्डित–दो पाद का जुर्माना हुआ द्विपदिका व्यवसृजति दो पाद दान मे देता है।

सूत्र ५/१/३४ मे पण पाद के बाद माष का जिक्र है। माष चादी और ताबे का सिक्का था। दोनो के शब्द रूप एक से बनते थे। चादी का रौप्य माष दो रत्ती और ताबे का पाच रत्ती का होता था।[१] अष्टाध्यायी मे माष से छोटे अर्धमाष का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर पण पाद माष शताद्यत् इस सूत्र मे अध्यर्ध की अनुवृत्ति से ११/२ माष का जिक्र है। इससे अर्धमाष के अस्तित्त्व का भी अनुमान होता है। अर्थशास्त्र मे सिक्को की और तोल की सूची मे अर्धमाषक की गणना है।

ताबे मे भी कार्षापण या कहापण प्रचलित सिक्का आजकल के पैसे जैसा था। ताबे का भाव तोल मे पाच रत्ती होता था। इसके छोटे सिक्के अड्ढमाषक काकणी अर्धकाकणी थे।

शाण ५/१/३५

पाणिनि ने शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओ के लिये लोक मे प्रचलित कई शब्दो का उल्लेख किया है–शाणाद्वा ५/१/३५ द्वित्रिपूर्वादण् च ५/१/३६। जैसे–अध्यर्धशाणम। अध्यर्धशाण्यम। द्विशाणम। त्रिशाणम् द्विशाणम् त्रैशाणम द्विशाण्यम् त्रिशाण्यम् महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसमे पञ्चशाणम–पञ्चशाण्यम और जोडे है। ये अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी है कि इस सिक्के का व्यवहार अधिक था। वार्तिककार कात्यायन ने इसी सूत्र पर दो वार्तिक लिखे है। ये वार्तिक भी यही आभास देते है कि कात्यायन के समय मे भी यह सिक्का काफी प्रचलित था जिसके कारण विविध शब्दरूपो का व्यवहार हो गया था। पाणिनि ने परिमाणान्तस्य असञ्ज्ञाशाणयो ७/३/१७ सूत्र मे शाण का उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि शाण उस

१ द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक–मनु० ८/१३५

अर्थ मे परिमाणवाची शब्द था जिस प्रकार हिरण्यपरिमाण धने ६/२/५५ या जातरूपेभ्य परिमाणे ४/३/१५३ मे वर्णित सुवर्णादि अर्थात् शाण निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। महाभारत मे शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है।[१] सौ रत्ती वाले शतमान मे आठ शाण होते थे। इस प्रकार एक शाण का वजन १२१/२ रत्ती–२५ ग्रेन हुआ। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है जो २० रत्ती हुआ। सम्भव है शाण तोल को कुछ बढाकर यह नया मान बनाया गया जैसा कि चरक की द्रोणादि तोलो मे भी बढाया हुआ मान मिलता है।

अष्टभाग या पदार्थ शतमान का दोगुना अर्थात् द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का उससे बडा तीन शाण उससे बडा चार शाण का या अर्धशतमान का सिक्का भी प्रचलन मे था।

अर्धकार्षापण

पाणिनीय सूत्र ५/१/४८ पूरणार्धटठन् मे अर्ध शब्द अर्धकार्षापण के लिये प्रयुक्त हुआ हैं। काशिका मे स्पष्ट लिखा है– अर्धशब्दोरूपकार्धस्य रूढि अर्थात इस सूत्र मे अर्धरूपकार्ध या अधेली की सज्ञा है। रूपकार्ध का तात्पर्य कार्षापण के अर्धभाग से है। जिस काम मे आधा कार्षापण सूद निकासी मुनाफा चुगी या रिश्वत के रूप मे दिया जाय उसे अर्धिक कहते थे। महासुपिन जातक मे अर्धकार्षापण के लिये केवल अडढ शब्द का व्यवहार हुआ है।[२]

गगमाल जातक मे भी अडढ सज्ञा ही है। इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि और जातको के समय अर्ध कार्षापण के लिये केवल अडढ शब्द काम मे आता था। पाणिनि ने अगले ही सूत्र मे अर्ध के लिये भाग शब्द का भी प्रयोग किया है –

---

१ अष्टौ शाणा शतमान वहन्ति–महाभारत वन पर्व १३४/१४

२ कहापणडढमासकरूपादीनि–जातक १/३४०

भागाद्यच्च ५/१/४६

भाग का अर्थ काशिका मे रूपकार्ध दिया है जो अर्ध का ही नामान्तर है।[1] भागिक का भी वही अर्थ था जो अर्धिक का था। कात्यायन ने भी अर्धकार्षापण के लिये अर्ध शब्द का प्रयोग किया है—टिठनर्धाच्च सूत्र ५/१/२५, वा०।

कौटिल्य ने अर्धकार्षापण के लिये अर्धपण शब्द का प्रयोग किया है। उसके वजन १६ रत्ती—२९ २८ ग्रेन था। इस वजन के आस—पास के सिक्के प्राचीन अर्ध के ही नमूने है।

सूवर्ण ६/२/५५

सुवर्ण का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी मे नही है परन्तु हिरण्यपरिमाण धने ६/२/५५ सूत्र मे हिरण्यपद मे सुवर्ण का भी अन्तर्भाव है। सूत्र का अर्थ है कि परिमाणवाची पूर्व पद के बाद धन शब्द उत्तर पद मे रहे तो पूर्वपद का अपना प्रकृतिस्वर विकल्प से रहता है। इसका उदाहरण है द्वौ सुवर्णौ परिमाणस्य द्विसुवर्णम् तदैव धनमिति द्विसुवर्णधनम् अर्थात् दो सुवर्ण सिक्को की पूजी। वह पूजी जिसकी हो उसको भी द्विसुवर्णधन कहेगे। हिरण्य और सुवर्ण मे अन्तर है। डा० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ हुण्ड की सज्ञा हिरण्य थी उसी को जब सिक्के के रूप मे ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहे जाते थे।[2] कौटिल्य के अनुसर सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थत् ८० गुञ्जा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने सुवर्ण तो मिले नही है परन्तु गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त होते है उनका वजन प्राय इतना ही मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे हिरण्यसुवर्णम् पद का अर्थ करते हुये श्री शाम शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा bar gold और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का Coined gold किया है। जातरूपेभ्य परिमाणे ४/३/१५३

---

१ भागशव्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचक —काशिका ५/१/४६

२ प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र आर एस शुक्ल पृष्ठ ५१

सूत्र के उदाहरण मे काशिका ने हाटक कार्षापण (सोने का कार्षापण) यह उदाहरण दिया है। कार्षापण की तोल भी ८० रत्ती के बराबर थी। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम हाटक कार्षापण है। जातरूपेभ्य परिमाणे सूत्र मे भी पाणिनि ने सोने के सिक्को का ही सकेत किया है। जातरूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दो का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिये आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकडे हो जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्को से ही प्रकट हो सकती है। हाटक निष्क मे हाटक विशेषण का अण् प्रत्यय परिमाण अर्थ का द्योतक है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है जहा अगला पद जो हाटक का विकार है परिमाणवाची हो। स्वर्णपात्र या सोने की बनी छडी के लिये हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

इस प्रकार सुवर्ण के सिक्को का अस्तित्त्व पाणिनि के समय मे ज्ञात होता है। विभाषाकार्षापण सहस्राभ्याम् ५/१/२६ सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन ने कहा है कि सूत्र मे सुवर्ण और शतमान का भी ग्रहण करना चाहिये—सुवर्णशतमानयोरुपसख्यानम्। उससे अध्यर्धसुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगो को सिद्ध किया गया है। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय मे सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्त्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस सम्बन्ध मे आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि या चाणक्य के समय का अभी तक कोई सिक्का नही मिला जबकि उस समय के चादी के कार्षापण नामक सिक्के पचास हजार के लगभग मिल चुके है।

अष्टाध्यायी के निष्कादि गण ५/१।२० तथा अलग सूत्र ५/१/३४ मे भी जो माष शब्द आता है उससे दोनो स्थानो मे रौप्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिये। पाणिनि ने स्पष्टत सुवर्ण माष का उल्लेख कही नहीं किया है।

पञ्चम-सोपान

पञ्चम-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित तत्कालीन धर्म एवं दर्शन

अष्टाध्यायी मे जिस धार्मिक अवस्था का चित्र है उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देव पूजा थी। यज्ञ ऋत्विज् दक्षिणा एव देवता और उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री सूत्रो मे आ गई है। साथ ही विविध दार्शनिक सम्प्रदाय और भिक्षुओ का भी उल्लेख आया है। प्रस्तुत अध्याय मे इन्ही सब बिन्दुओ पर विचार किया जा रहा है।

यज्ञ

याज्ञिक

यज्ञो का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है। पाणिनि ने भी याज्ञिको के आम्नाय और धर्म को याज्ञिक्य कहा है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिको के वाङमय का उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी मे जो धार्मिक चित्र है उसमे यज्ञ सम्बन्धी साहित्य एव यज्ञकर्म १/२/३४ ८/२/८८ की पर्याप्त सामग्री पायी जाती है। सुब्रह्मण्या १/२/३६ न्यूडख १/२/३४ और याज्या ८/२/९० उच्चारण के सम्बन्ध मे आचार्य ने सूक्ष्म नियमो का उल्लेख किया है।

याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था तो दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एव दूसरे यज्ञ या इष्टियो के व्याख्यान ग्रन्थ भी बनाये गये थे

४/३/६८/ पुरोडाश सम्बन्धी कुछ पद्धतियो का सूत्र मे उल्लेख है। पुरोडाश किस प्रकार बनाया जाय इसकी विधि बताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था। पुरोडाश बनाने मे जिन मन्त्रो की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था ४/३/७। यज्ञो मे सम्मिलित होने वाले ऋत्विजो की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ऐसी सारोद्धारिणी पद्धति की मॉग रहती थी।

यजमान

जब तक यज्ञ की अवधि रहती तब तक के लिये मुख्य कर्ता की सज्ञा यजमान होती थी। यज्ञ की समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा ३/२/१०३ कहलाता था। विशिष्ट यज्ञो के आधार पर उसके लिये अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे। ३/२/८५/ जो व्यक्ति बार–बार यज्ञ करता और जिसका स्वभाव ही यजनशील बन जाता था उसके लिये भाषा मे यायजूक शब्द था–इज्याशीलो यायजूक । यज्ञ काल मे यजमान वाक् सयम का व्रत रखने के कारण ही वाच यम–वाचि यमो व्रते ३/२/४० एव स्थाण्डिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल– स्थण्डिलाच्छायितरि व्रते ४/२/१५ कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता तो वह अलकर्मीण कहा जाता– अलकर्मणो अलकर्मीण । उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठकर आहुति डालने मे उसकी सहायता करता था। अलकर्म मे कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था जैसा कि शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख आया है यज्ञो वै कर्म १/१/२/१

आस्पद

ब्राह्मणो मे सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी– आस्पद प्रतिष्ठायाम् ६/१/१४६। यज्ञो के आधार पर आस्पदो की प्रसिद्धि होती थी जैसे–बाजपेयी अग्निहोत्री आदि। जो श्रोताग्नियो का आधान करके उनकी

परिचर्या करता था उसे आहिताग्नि कहते थे वाऽऽहिताग्न्यादिषु २/२/३७। आवसथ अग्नि के लिये निर्मित स्थान मे निवास करने वाला व्यक्ति आवसथिक कहलाता था। आवसथात ष्ठल ४/४/७४ आवसथे वसति आवसथिक आवसथिकी। ब्राह्मणो का अवस्थी आस्पद इसी से बना है। यज्ञ भूमि मे यजमान के लिये जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योकि आवसथ अग्नि की स्थापना वही की जाती थी। यज्ञ के दिनो मे यजमान को वही रहना आवश्यक था। इसे ही अग्नि शरण भी कहते थे।

यज्ञाख्या ५/१/६५

यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति यज् धातु से की जाती थी यज् + नङ। पाणिनि ने इज्या शब्द का भी प्रयोग किया है। यजुर्वेद मे यज्ञो का प्रतिपादन है। यज्ञ तीन प्रकार के थे—इष्टि पशुबन्ध और सोम। इष्टि जैसे दर्श पौर्णमास मे स्वाहा कहकर और बैठकर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सोमयज्ञो मे आहुति खडे होकर और वौषट् बोलकर डाली जाती थी। एक सूत्र मे यजुर्वेद के क्रतुओ का उल्लेख है— अध्वर्यु क्रतुरनपुसकम् २/४/४ जैसे अर्काश्वमेध सायाह्नातिरात्र (काशिका) क्रतुयज्ञेभ्यश्च ४/३/६८ सूत्र मे क्रतु और यज्ञो मे अन्तर बताया गया है। यज्ञ व्यापक शब्द था। इसके अन्तर्गत दर्श पौर्णमास जैसी इष्टिया पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम पञ्चौदन और सप्तौदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एव अग्निष्टोम राजसूय और बाजपेय जैसे क्रतु भी थे। किन्तु क्रतु शब्द केवल सोमयज्ञो के लिये ही प्रयुक्त होता था (क्रतु शब्द सोमयज्ञेषु रुढ—काशिका २/४/४) क्रतुओ मे सोम की आहुति दी जाती थी। क्रतु दो प्रकार के होते है एक अहीन कहलाते है जो एक दिन से ग्यारह दिन तक चलने वाले सोमयाग है और दूसरे सत्र जो बाहर दिन से वर्ष दो वर्ष सौ वर्ष या सहस्र वर्ष तक चलते है। ४/४/४२ पर एक वार्तिक द्वारा क्रतु के अर्थ मे अहीन शब्द सिद्ध किया गया है— अह्न ख क्रतौ एव

६/४/१४५ अह्ना समूह क्रतु अहीन। दिनो की अवधि के अनुसार अहीन यज्ञ एकाह दशाह आदि कहलाते थे।[1] अग्निष्टोम वाजपेय और राजसूय क्रतु है पर सत्र नही। अग्निष्टोम और वाजपेय एक–एक दिन के यज्ञ है जिनके पहले चार दिन की पूर्वा विधि की जाती थी। राजसूय चार दिन का यज्ञ है। कभी–कभी सोमयाग का नाम दिनो की सख्या और यजमान के नाम से पड जाता था जैसे–गर्ग त्रिरात्र (गर्ग कुल मे तीन दिन का सोमयाग) इसी प्रकार चरक त्रिरात्र कसुरबिन्दु सप्तरात्र– द्विगौ क्रतौ ६/२/६७।

विशेष यज्ञो मे पाणिनि ने अग्निष्टोम ८/३/८२ ज्योतिष्टोम और आयुष्टोम ८/३/८३ का उल्लेख किया है। आयुष्टोम और ज्योतिष्टोम मिलकर अभिप्लव विधि होती है। अग्निष्टोम मे तीन सवन और द्वादश स्तोत्र होते है।

पाणिनि ने दीर्घसत्र यज्ञो का भी उल्लेख किया है जो सौ या सहस्र वर्ष के दीर्घ काल तक चलते थे–७/३/१ ब्राह्मण ग्रन्थो मे ऐसे यज्ञो का वर्णन है जैसे–विश्वस्टज् जो कि सहस्रसवत्सर था। पतञ्जलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक मे वस्तुत कोई करता नही था। ऐसे यज्ञ केवल याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय मे विदित थे।

सोम

सोम अभिषव सुत्या कहलाता था ३/३/९९। अभिषव करने वाले को सोमसुत् कहते थे। ३/२/९०/ जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद से प्रसिद्ध होता था ३/२/१०३ जैसे यज्ञ कर्ता के लिये यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमे सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल मे दस पीढी पहले तक आचार

१ काशिका ५/१/६५

पर कोई आँच न आई हो वह सोमपान का अधिकारी होता है।[1] मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है—जिसके घर मे तीन वर्ष या उससे अधिक के लिये पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है।[2] सोम यज्ञ मे यद्यपि ऋत्विक सोम कूटने—पीसने—छानने की क्रिया करता पर यजमान को ही प्रधान कर्ता होने के नाते उसका फल प्राप्त होता था। वह यजमान सुन्वन् कहलाता था—सुञो यज्ञ सयोगे ३/२/१३२/ वारह दिन या उससे अधिक के सोम सत्र मे ऋत्विजो की सख्या सत्रह से पचीस तक होती थी। उनमे सभी यजमान होते थे सभी ऋत्विज भी थे सब का आहिताग्नि होना आवश्यक था सब को यज्ञ के पुण्य फल मे समान भाग प्राप्त होता था कोई न दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था एव सभी मिलकर सोम का सेवन करते थे इसी स्थिति का सूचक यह वाक्य था—सर्वे सुन्वन्त सर्वे यजमाना सत्रिण उच्यन्ते—काशिका ३/२/१३२।

अग्नाख्या ३/२/६२

जो अग्नि आहुति को देवो के समीप ले जाता है उसकी सज्ञा हव्यवाहन—हव्येऽनन्त पादम् ३/२/६६ और जो पितरो के पास ले जाता है उसकी सज्ञा कव्यवाहन—कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् ३/२/६५। हव्य वाहन अग्नि को स्वाहा और कव्य वाहन को स्वधा कह कर आहुति दी जाती है। श्रौत यज्ञो के लिये उपयुक्त अग्नि चित्याग्नि ३/१/१३२ होती थी। तीन श्रौताग्नियो मे गार्हपत्य गृहपतिना सयुक्ते ञ्य ४/४/९० गृहपतिना सयुक्त गार्हपत्योग्नि और दक्षिणाग्नि का उल्लेख सूत्रो मे है। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योकि उसे गार्हपत्य अग्नि मे से लाते थे और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नही किया जाता था—आनाय्योऽनित्ये ३/१/१२७ भाष्य आनाय्यो दक्षिणाग्निति वक्तव्यम।

---

१ एव हि याज्ञिका पठन्ति दश पुरुषानूक यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोम पिवेदिति भाष्य ४/१/९३।

२ यस्य त्रैवार्षिक धान्य निहित भृत्यवृत्तये अधिक वापि विद्यते स सोम पातुमर्हति—मनु ११/७ (काशिका ७/३/१६

आनाय्य शब्द कुछ विशेष प्रकार का है। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मन्थन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होने पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी मे गार्हपत्य अग्नि के रुप मे सुरक्षित रखता था। दो वेदिया और थी आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदी मे से अग्नि ले जाकर उन दोनो वेदियो मे डालता था इसी लिये दोनो उस काल विशेष के लिये ही पृथक प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थी। जैसे ही आहुतियॉ समाप्त हो जाती वे दोनो पवित्र अग्निया न रह जाती थी किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थी। ऐसी भी प्रथा थी कि गार्हपत्य अग्नि मे से दक्षिणाग्नि के लिये अग्नि न लेकर भडभूजे के भाड से (भ्राष्ट्र) वैश्यकुल मे जो प्रज्वलित अग्नि हो उससे या किसी ऐसी नयी जगह से भी ले सकते थे जहॉ अभी श्रौताग्नि की विधिवत स्थापना न हुई हो। ऐसी पृष्ठभूमि मे आनाय्य सज्ञा केवल दक्षिणाग्नि के लिये प्रयुक्त होती थी—आनाय्यो दक्षिणाग्ने रुढिरेषा —काशिका ३/२/६२

वेदियॉ

वेदि मे अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओ के लिये तीन शब्द भाषा मे थे— परिचाय्य उपचाय्य समूह्य। आरम्भ मे समिधाओ को विधि पूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई।[1] यह उसकी अलकरण की दशा थी। बीच मे जब वह खूब दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे अन्त मे उसे इधर—उधर बिखरी अवस्था मे बटोरकर राख कचरा आदि का ढेर लगा देना यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिये समूह्य पुरीष यह सार्थक शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था।[2]

दर्श पौर्णमास की वेदि ३६ वितस्ति लम्बी और १८ वितरित्त चौडी कही गई है (२७ फुट×१३$^{१}/_{२}$ फुट)। इससे दुगुनी एव तिगुनी नाप की क्रमश द्विरतावा एव त्रिस्तावा कहलाती थी।[3]

१ परिचाय्य चिन्वीत ग्राम काम—शतपथ ५/४/११/१

२ शतपथ ६/७/२/८ कात्यायन श्रौ० १६/५/६—१०

३ द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदि ५/४/८४।

वेदि की इस भूमि पर भिन्न–भिन्न वेदियॉ या हवनकुण्ड बनाये जाते थे प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। उनका उल्लेख कर्मण्यग्न्याख्यायाम ३/२/९२ सूत्र मे किया गया है जैसे श्येनचित कडकचित (काशिका) उभयत प्रउगचित् (दोहरे त्रिकोण की या डमरु की आकृति)[1] यह सब विशिष्ट प्रकार का अग्नि चयन था जिसे अग्निचित्या कहा जाता था ३/१/१३२। वेदियो के निर्माण मे जिन–जिन मन्त्रो से इष्टकाचिति की जाती थी उन मन्त्रो से उन इष्टिकाओ का नाम पड जाता था ४/४/१२५, मन्त्र मे जो महत्वपूर्ण शब्द होता उसे प्रतीक मानकर इष्टका का नाम रखा जाता था। जैसे–वर्चस्या तेजस्या रेतस्या पयस्या ये इष्टिकाओ के प्राचीन नाम थे। जो इस प्रकार की अग्नियो का चयन करता था अग्निचित् कहा जाता था। ३/२/९१

यज्ञार्थ उपकरण

इनमे से कुछ का प्रासगिक उल्लेख सूत्रो मे आ गया है। सोम क्रतुओ मे जिस स्थान पर बैठकर छन्दोग या सामगान करने वाले ऋत्विज सामगान करते थे वह स्थान सस्ताव कहा गया है। अमरकोश मे इसे स्तुति भूमि लिखा है। कूडा–कचरा फेकने का स्थान अवस्कर कहलाता था ४/३/२८ कुश या दर्भ की सज्ञा पवित्र थी–पुव सज्ञायाम् ३/२/१८५। सोमयाग मे सोम नामक ओषधि की आवश्यकता पडती थी। पतञ्जलि ने पूतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिधि लिखा है साथ ही कहा कि इससे यह न समझना चाहिये कि सोम गई–बीती वस्तु हो गई।[2]

यज्ञ पात्र १/३/६४

सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहो का जोडा रखा जाता था। द्वन्द्व शब्द का एक अर्थ यज्ञ पात्र प्रयोग भी है ८/१/१५। सूत्र मे शुल्लक वैश्वदेव और महावैश्वदेव नामक ग्रहो का उल्लेख आया है–क्षुल्लकश्च

१ कात्यायन श्रौत सूत्र १६/५/६।
२ न च तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति भाष्य–१/३/५६।

वैश्वदेवे ६/२/३६। आहुति द्रव्य हवि था। उसी का एक विशेष रुप सानाय्य कहलाता था ३/१/१२६। यह दर्श नामक इष्टि मे इन्द्र देवता के उद्देश्य से दी जाने वाली हवि थी। इष्टि से पहली सायकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायदोह) उसका दही जमा लिया जाता था। अगले दिन उस दही मे प्रात काल का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सानाच्य हवि बनती थी। सम् + नी = सानना मिलाना।[1]

ऋत्विक

यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्विज कहलाते थे ३/२/५६। ऋत्विक कर्मो के कराने मे दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे।[2] पतञ्जलि ने आर्त्विजीन ब्राह्मण कुलम् लिखा है। स्पष्ट है कि वैदिक युग से ही ब्राह्मण लोग बडे परिश्रम से ऋत्विक कर्म मे निपुणता उपार्जित करते आये थे। षडविश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञो मे प्रयुक्त वेदमन्त्रो का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। आर्त्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञ मन्त्रो का पद स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध स्फुट उच्चारण कर सके। यजमान के लिये विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विक् को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान हो उसके साथ याजक शब्द जोडकर भाषा मे शब्द बनते थे जैसे— ब्राह्मण याजक क्षत्रिय याजक आदि—याजकादिभिश्च २/२/९।

विशेषज्ञ

जो जिस यज्ञ या विधि मे विशेष निपुणता प्राप्त करता था उसे उसी के लिये आमन्त्रित करते थे। जो सोम क्रतुओ का विशेष अध्ययन

---

१ दर्श—इष्टि मे तीन आहुतिया होती हैं—पहली अग्नि के लिये आग्नेय पुरोडाश की दूसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र दधि की तीसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सानाय्य हवि बनती थी। इसमे उद्दिष्ट देवता तो एक था पर भिन्न आहुति द्रव्यो को एक मे साथ मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू मे दही भरकर उसके ऊपर दूध छोडने से सानाय्य हवि बनती थी।

२ ५/१/७१ सूत्र पर वा० ऋत्विक कर्मार्हति।

करते थे वे आग्निष्टोमिक बाजपेयिक राजसूयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बडे यज्ञो का दायित्व लेने के लिये इन विशेषज्ञो को ही आमन्त्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञो मे सम्मिलित होते थे। जिस प्रकार यजमान पुत्र अपने पिता की सहायता करता था वैसे ही ऋत्विक पुत्र भी करते थे और वे अलकर्मीण कहलाते थे।[1] इसीलिये भाषा मे ऋत्विक पुत्र एव होतु पुत्र जैसे शब्दो की अलग आकाक्षा हुई। ६/२/१३३।

ऋत्विक सरव्या

ब्राह्मणो के अनुसार ऋत्विजो की सख्या सोलह थी। उनके चार वर्ग थे।[2] ऋग्वेद के ऋत्विजो मे पाणिनि ने होता प्रशास्ता ६/४/११ और ग्रावस्तुत् ३/२/१७७ का उल्लेख किया है। प्रशास्ता को मैत्रावरुण भी कहते थे। होता याज्या और अनुवाक्या मन्त्रो का पाठ करता था। ग्रावस्तुत् ऋत्विज सोम का अभिषव करते समय सिल बटटो की स्तुति के मन्त्र पढता था।

सामवेद के ऋत्विजो मे उद्‌गाता ५/१/१२६ और उसके सहायक प्रतिहर्ता का (गण पाठ मे) उल्लेख है।

यज्ञ मे अध्वर्यु का पद महत्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे–जैसे यज्ञो के कर्मकाण्ड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजो के भेद बढने लगे। इसमे दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओ की ख्याति हुई जैसे–प्राच्याध्वर्यु अर्थात प्राच्य देश का अध्वर्यु। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओ के भेद से कर्मकाण्ड मे भेद पड जाना था। इसके प्रमाण ब्राह्मण और श्रौत सूत्रो मे दिखाई देते है।

---

१ यदस्य पुत्रो वान्तेवासी बालकर्मीण स्यात्–बौ० श्रौ० २२/२०

२ (क) ऋग्वेद–होता मैत्रावरुण अच्छावाक ग्रावस्तुत्।
(ख) यजुर्वेद– अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता नेष्टा उन्नेता।
(ग) सामवेद– उद्‌गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य।
(घ) अर्थवेद– ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छसी आग्नीध पोता।

अथर्ववेद के ऋत्विजों में पाणिनि ने ब्रह्मा ५/१/१३६, अग्नीध ८/२/९२ और पोता ६/४/११ का उल्लेख किया है। ऋग्वेद में ही ब्रह्मा का महत्व और ऋत्विजों की अपेक्षा विशेष माना जाने लगा था, उसे सुविप्र कहा गया है। ब्रह्मा चारों वेदों का और यज्ञ के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता होता था, यही उसकी विशेषता थी। कालान्तर में जो महाब्रह्मा पद सबसे विशिष्ट विद्वान् के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा उसकी पृष्ठभूमि यही थी।

ऋत्विजों के पृथक् कर्म

यज्ञ में सोलह ऋत्विजों का कर्म एक दूसरे के साथ सहयोग पर आश्रित था। उनमें से प्रत्येक के कर्म और भाव को प्रकट करने के लिये भाषा में अलग–अलग शब्द थे। ये नाम ऋत्विजों के नामों में प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते थे। होत्राभ्यश्छः ५/१/१३५ सूत्र में इसका विधान किया गया है होत्रा शब्द ऋत्विग्विशेष वचनः – काशिका। जिस तरह आच्छावाकीय (आच्छावाकस्य भावः कर्म वा) मित्रावरुणीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, अग्नीघ्र, प्रतिपरस्थात्रीय उद्‌गाता का काम औद्‌गात्र ५/१/१२६ और अध्वर्यु का आध्वर्यय ४/३/१२३ कहलाता था। ब्रह्मा का कर्म या भाव ब्रह्मत्व कहा जाता था–ब्राह्मणस्तवः ५/१/१३६।

मन्त्रकरण

यज्ञ में देवताओं का आवाहन करने के लिये निश्चित मन्त्रों का पढ़ना मन्त्रकरण कहलाता था–उपान्मन्त्रकरणे १/३/२५। इसके लिये भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गये थे जैसे–आग्नेय्याऽऽग्नीघ्रमुपतिष्ठते (आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीय ऋत्विज का उपस्थान करता है) मन्त्रों का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था। १/३/४८। देवावाहन निहव या अभिहव कहलाता था।

उपयज

यजुर्वेद ६/२१ मे ग्यारह छोटे मन्त्र भाग है—समुद्र गच्छ। स्वाहा इत्यादि—उन्हे उपयज् कहा जाता है—विजुपे छन्दसि ३/२/७३।

दक्षिणा

यज्ञ मे कर्म करने वाले ऋत्विजो को दक्षिणा दी जाती थी। उसके विभाग के विषय मे कुछ नियम धर्म शास्त्र ग्रन्थो मे दिये है। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पडता था (तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्य ५/१/६५) यथा—राजसूय वाजपेय अग्निष्टोम यज्ञो की दक्षिणा राजसूयिकी वाजपेयिकी आग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है कि प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक—व्यवहार मे निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था उसे दक्षिण्य कहा जाता था —(दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मण)।

स्रौव सम्बन्ध

ऋत्विज् और यजमान के बीच का सम्बन्ध गुरू—शिष्य या पिता—पुत्र जैसा ही घनिष्ठ माना जाता था। पतञ्जलि ने उसे स्रौव सम्बन्ध कहा है।[1] पतञ्जलि ने लाल पगडी बॉधने वाले ऋत्विजो का उल्लेख किया है। लाटयायन श्रौत सूत्र एव कात्यायन श्रौत २२/३/१५ से ज्ञात होता है कि वे व्रात्यो के ऋत्विज थे।

---

१ लोके बहवोऽभि सम्बन्धा आर्था यौना मौखा स्रौवाश्च—१/१/४६ वा० ४—भाष्य

देवता

देवता-पाणिनीय सूत्रो मे निम्नलिखित वैदिक देवाताओ का उल्लेख मिलता है। –सूर्य ३/१/११४ अग्नि ४/१/३७ इन्द्र ४/१/३७ वरुण ४/१/३७ भव ४/१/३७ शर्व ४/१/३७ रुद्र ४/१/३७ रुद्र ४/१/३७ वृषाकपि ४/१/३७ मृड ४/१/४६ अपानप्तृ ४/२/२७ महेन्द्र ४/२/२६ सोम ४/२/३० वायु ४/२/३१ नासत्य ६/३/७५, त्वष्टा ६/४/११ अर्यमा ६/४/१२। पाणिनि ने नासत्य की व्युत्पत्ति न असत्यौ मानी है। इस विषय मे प्राचीन काल मे दो मत थे।[1] प्रजापति देवता को क कहा गया है–कस्येत् ४/२/२५। पतञ्जलि ने लिखा है कि क सर्वनाम न होकर देवता की सञ्ज्ञा है– सञ्ज्ञा चैषा तत्रभवत । वास्तोष्पति और गृहमेध देवताओ का भी उल्लेख है। वास्तोष्पति तो ऋग्वेद कालीन देवता था किन्तु गृहमेध गृह्यसूत्रो के समय से नया देवता माना जाने लगा। गृहमेध है देवता जिसका ऐसा पुरोडाश हवि या कर्म गृहमेधीय–गृहमेध्य कहा जाता था। गृह्य सूत्रो के युग मे महेन्द्र और इन्द्र मे भेद माना जाने लगा। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और उत्तर–पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहा जाता था ४/७/२६–३३। अपानप्तृ अग्नि का नाम था जिसे देवता मानकर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता द्वन्द्व ६/३/२६ या जुडवॉ देवताओ के नाम भी है जैसे–अग्नीषोम ४/२/३२ द्यावा पृथ्वी ४/२/३२ शुनासीर ४/२/३२ अग्नीवरुण ६/३/२७।

देवता द्वन्द्वे च ६/३/२६ मे उन्हीं देवताओ का जोडा लिया गया है जिनका वेद मे साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक मे भी एक साथ मान्यता थी। विशुद्ध लौकिक देवताओ का ग्रहण वहॉ नही किया गया किन्तु वैदिक देवताओ के नमूने पर लोक मे भी नये–नये देवताओ के युग्म अस्तित्त्व मे आ रहे थे। इन देवताओ की एक साथ पूजा की जाती थी

जैसे– ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवणौ सकर्षणवासुदेवौ। इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक मे प्रसिद्ध था उन्हे अभिव्यक्त कहा गया है। द्वन्द्व शब्द से उनका भी ग्रहण होता था।

उत्तरकालीन देवता

पार्वती या अम्बिका के चार रुपो का उल्लेख है—भवानी शर्वाणी रुद्राणी मृडानी ४/१/४६/ विशेषत सूत्र युग मे इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र भव शर्व अग्नि के रुप है जिनमे से शर्व प्राच्य देश मे और भव वाहीक देश मे लोकप्रिय था।[1] सम्भव है कि शर्वाणी और भवानी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हो। इसी प्रकार रुद्राणी और मृडानी भी स्थानीय नाम हो सकते है।

सूत्र ४/१/८५ मे जिस आदित्य का उल्लेख है वह वैदिक आदित्य देवता की अपेक्षा सूत्र युग के देवता ज्ञात होते है। वस्तुत पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यातव्य है वह यह है कि कालवाची शब्दो से अभिहित नये देवताओ की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। कालेभ्यो भववत् ४/२/३४ सूत्र मे सास्य देवता प्रकरण के अन्तर्गत अनेक कालवाची शब्दो को देवता माना गया है जैसे वह स्थालीपाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती थी (मासो देवताऽस्य मासिक हवि)। इसी प्रकार अर्धमास देवता की हवि आर्धमासिक सवत्सर की सावत्सरिक वसन्त ऋतु की वासन्तिक इौर प्रावृष ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास ऋतु सवत्सर सभी को देवताओ का नया पद प्राप्त हुआ और लोक मे उनकी पूजा वेग से चली। ४/२/३१ सूत्र मे स्वय आचार्य ने ही ऋतु को देवता कहा है—ऋतु देवताऽस्य ऋतव्य हवि वायवृतु पित्रुषसोर्यत ४/२/३१। देवत्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहॉ तक बढी कि जितने नक्षत्र थे वे भी देवता मान लिये गये।

---

१ शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीका– शत० १/७/३/८

भक्ति

देवताओ के विषय मे उपरिलिखित दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। यह भक्ति प्रधान दृष्टिकोण था। वरुणदत्त अर्यमदत्त जैसे नाम जो ५/३/८४ सूत्र मे आये है इससे ज्ञात होता है कि वरुण और अर्यमा देवताओ को भक्ति से प्रसन्न करके माता–पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ मे विश्वास करते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की लोक भावना की व्यख्या करते हुये लिखा है कि नामो के अन्त मे उत्तर पद देवता के आशीर्वाद का सूचक समझा जाता था–कारकादत्त श्रुतयोरेवाशिषि ६/२/१४८। मनुष्य का नाम उस आशीर्वाद का जीता– जागता प्रतीक होता था।

पाणिनि के युग मे भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञो मे जो पुरातन काल की आस्था थी उसके साथ–साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओ की भक्ति या विश्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का फल कई प्रकार से देखने मे आया। प्रथमत लोक धर्म मे जो सैकडो प्रकार के छोटे–मोटे देवता थे उन सब की पद–प्रतिष्ठा बढी और उनके लिये त्रैवर्णिक समाज मे द्वार उन्मुक्त हो गया। फलत यक्ष नाग भूत पिशाच ग्रह रुद्र देवी वृक्ष नदी पर्वत आदि को देवता मानकर उन्हे पूजने की जो परम्परा लोक मे प्रचलन मे थी उसे सार्वजनिक मान्यता मिल गयी।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमे फल–फूल धूप दीप नैवेद्य पत्र पुष्प वाद्य नृत्य गीत बलि आदि की प्रथा न थी - किन्तु लोक मे यज्ञादि देवो की जो पूजा थी उसका स्वरुप ठीक इन्ही वस्तुओ से निर्मित होता था। जो देवता की भक्ति करते थे वे इसी प्रकार की पूजा चढाते थे।

मूर्तियां

मूर्तियो को जिनमे देवमूर्तिया भी सम्मिलित है प्रतिकृति कहा गया है ५/३/६६। इसी अर्थ मे अर्चा इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है ५/२/१०१। मूर्ति रखने वाला पुजारी अर्चावान् या आर्च कहलाता था।

जीविकार्थे चापण्ये ५/३/६६ सूत्र देवमूर्तियो के वाचक शब्दो के नामो की सिद्धि के लिये है– जो मूर्ति जीविका के लिये हो और बिक्री के लिये न हो तो उसके वाचक शब्द से क प्रत्यय नही लगता। इस सबन्ध मे कई विचार सम्भव है जिनसे सूत्र और भाष्य की पृष्ठभूमि का सकेत मिलता है।

१ कुछ मूर्तिया ऐसी थी जो सार्वजनिक रुप से प्रासाद मे अथवा खुले चत्वरो पर स्थापित होती थीं उन पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व न था अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थी और न बिक्री के लिये पण्य रुप मे ही थी वे केवल पूजार्थ होती थी।

२ दूसरे प्रकार की मूर्तिया देवलक या पुजारियो के अधिकार मे होती थी। या तो वे एक स्थान पर रखी जाती थीं या देवलक उन्हे स्थान–स्थान पर ले जाकर पूजा चढवाते थे। ऐसी सचल एव अचल मूर्तिया पूजार्थ और देवलको के जीविकार्थ होती थी किन्तु बिक्री के लिये न होने से अपण्य थी। ये पाणिनीय सूत्रान्तर्गत आती है जबकि पहली प्रकार की नही आती। पाणिनीय सूत्रान्तर्गत आने के कारण इसमे कन् प्रत्यय का लोप करके इन्हे शिव–स्कन्द आदि नामो से अभिहित किया जाता था।

३ तीसरे प्रकार की मूर्तिया वे थी जो दुकानो मे बिक्री के लिये रखी जाती थी वे पूजा के लिये नही थी परन्तु अपने स्वामी

दुकानदारो की जीविका का साधन अवश्य थी। ऐसी पण्य मूर्तिया पाणिनीय सूत्र का प्रत्युदाहरण है उन्हे शिवक स्कन्दक आदि कहा जाता था।

४ पतञ्जलि ने एक नयी समस्या खडी कर दी कि उस प्रकार की मूर्तियो का नामकरण किस प्रकार से किया जाये जिन्हे मौर्य राजाओ ने रुपये के लोभ से बनवाया था जो पण्य भी थीं जीविका का साधन भी एव पूजार्थ भी।[1] मौर्यो ने वास्तव मे ऐसी मूर्तियो का निर्माण करवाया जिनसे वे पैसा इकट्ठा करना चाहते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि—आजीवेत् हिरण्योपहारेण कोश कुर्यात्। देवताओ के चैत्यो मे उत्सव

और मेले करावे और नाग मूर्तिया अपने फनो की सख्या घटा—बढा लेती है इस प्रकार की चामत्कारिक बात फैलाकर देवताध्यक्ष को देवमूर्तियो के द्वारा सोना एकत्रित करके खजाना भरना चाहिये। इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तिया जीविका पण्य और पूजा तीनो बातो के लिये थी। प्रश्न उठता है कि उनका नामकरण शिव किया जाय या शिवक। पतञ्जलि ने यह समाधान दिया कि ऐसी मूर्तियो के लिये पाणिनीय सूत्र नही है। और यद्यपि वे पूजा और जीविका के लिये थी उन्हे शिव और स्कन्द कहना कठिन था।

५ अन्त मे पतञ्जलि का कथन है कि मौर्य राजाओ की उन मूर्तियो की बात जो पण्य और जीविका दोनो के लिये थीं छोड दे पर इस समय पूजा मे जो मूर्तिया पधरायी हुई है और जिनसे देवलको की जीविका चलती है किन्तु जो पण्य नही है उनमे पाणिनीय सूत्र प्रयुक्त होगा और वे शिव स्कन्द कही जायेगी शिवक नही।

---

१ अपण्य इत्युच्यते तत्रेद न सिद्ध्यति शिव स्कन्द विशाख इति कि कारणम। मौर्याहिरण्यार्थिभिरर्चा प्रकल्पिता। भवेत्तासु न स्यात यास्त्वेता सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति भाष्य ५/३/९९।

असुर

सूत्रो मे देव वैरी असुरो के भी कुछ नाम आये है जैसे– दैत्यमाता दिति ४/१/८५, सर्पमाता कद्रू ४/१/७१ असुर ४/४/१२३ राक्षस ४/४/१२१ यातु ४/४/१२१/ कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी सहिता मे ३/२/६ आया है। राहु और चन्द्रमा की कथा का सकेत विधुन्तुद शब्द ३/२/३५ मे है।

धार्मिक विश्वास

धार्मिक जीवन मे चान्द्रायण आदि व्रतो का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन मे चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था–चान्द्रायण वर्तयति ५/१/७२। जो व्यक्ति स्थण्डिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थाण्डिल कहलाता था –स्थण्डिलाच्छायितरि व्रते ४/२/१५। पारायण करते समय अथवा यज्ञ के समय वेदि के स्थण्डिल पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे अथवा मन्त्र या जप के समय अन्य शब्दो का उच्चारण न करते थे–वाचि यमो व्रते ३/२/४०/ गृहस्थो के आचार मे देवताओ को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार की बलि देने की प्रथा आरम्भ हो गयी थी। कुबेर को दी हुई बलि कुबेरबलि और चार महाराजदेवताओ की बलि महाराजबलि कही जाती थी। वैदिक स्थालीपाक रुप हवि और लौकिक बलि इन दोनो के सम्मिलन से गृहस्थ धर्म मे देवताओ के उत्सव के लिये किसी दिन पूडी–पकवान कडाही आदि करने का रिवाज चल पडा था। पश्चात यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार बन गया। बलि के लिये प्रयुक्त अन्न बालेय कहा जाता था ५/१/१३।

श्राद्ध

कव्यवाहन अग्नि ३/२/६५ मे पितरो के लिये अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरो को देवता कहा गया है। सास्य देवता मानकर उन्हे

जो हवि दी जाती उसे पित्र्य हवि कहते थे। ४/२/३१। आश्विन कृष्ण पक्ष जिसे पितृ–पक्ष भी कहते है या शरद् ऋतु मे महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे। श्राद्धे शरद ४/३/१२। श्राद्ध मे भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था–श्राद्धमनेन भुक्तमिनठनौ ५/२/८५। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था (समान काल ग्रहणम)। यदि आज किसी ने श्राद्ध खाया तो कल उसी को श्राद्धी नही कहा जाता था–अद्य भुङक्ते श्राद्धे श्व श्राद्धिक इति मा भूत–भाष्य। इस शब्द की भाषा मे आकाक्षा इस लिये हुयी कि श्राद्ध भोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्न या रात्रि मे कुछ जप आदि के द्वारा आत्म सस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी श्राद्धिक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिये इस विशेष शब्द से अभिहित होता था। धार्मिक कृत्यो मे मुण्डन की प्रथा थी। मुण्डन कराने वाला मद्रकर या मद्रकार कहलाता था ३/२/४४।

लोक विश्वास

ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन मे लोगो का विश्वास था जैसे–देवदत्ताय ईक्षते अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्न १/४/३६। इसी प्रकार शरीर के चिह्नो से फल विचार भी माना जाता था–लक्षणे जायापत्योष्टक ३/२/५२/ वशीकरण मन्त्र को आचार्य पाणिनि ने वन्धन ऋषि अर्थात मन को वॉधने वाला वेद मन्त्र कहा है वही हृद्य कहलाता था।[1]

यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते है उन्हे पुण्याह या पुण्यरात्र कहते थे ५/४/८७/ सुकर्म से पुण्यफल मिलता है इस प्रकार का विश्वास और तदनुसार क्रिया की भी प्रथा थी (सप्तम्या पुण्यम ६/२/१५२) जैसे वेद–पुण्यम् अध्ययन–पुण्यम्। भ्रूण हत्या ६/४/१७४ ब्रह्म हत्या ३/२/८७ जैसे महापातको का भी उल्लेख है।

---

१ बन्धने चर्षौ ४/४/६६ परहृदय येन बद्ध्यते वशीक्रियते स वशीकरण मन्त्रो हृद्य इत्युच्यते।

धर्म

धर्म शब्द के अष्टाध्यायी मे दो अर्थ है–

(१) परम्परा प्राप्त आचार जो धर्मसूत्रो मे है जैसे ४/४/४७ तस्य धर्म्यम धर्म्य = आचारयुक्त–काशिका। जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे–धर्मादनपेतम् ४/४/६२। शुल्कशाला पर जो चुगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है क्योकि इस प्रकार के वधन पीढी–दर–पीढी के रिवाज से लोक मे प्रचलित थे।

(२) धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिये है जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है जैसे–धर्म चरति धार्मिक ४/४/४१।

दर्शन

ज्ञान का नया आदर्श

लगभग दशवीं शती ई० पू० से पॉचवी शती ई० पू० तक का महाजनपद युग भारतवर्ष मे अभूतपूर्व ज्ञानमन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रो की नयी उद्‌भावना हुई जिसे पाणिनि ने उपज्ञात साहित्य कहा है। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिष्को से ज्ञान का स्वतन्त्र उद्‌भव था। इसी समय व्याकरण निरुक्त आदि शास्त्रो का जन्म हुआ। शाकटायन यास्क औदव्रजि आपिशलि औदुम्बरायण वार्ष्यायणि शाकल्य वैशम्पायन जैसे आचार्यो ने विद्या के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य किया। श्लोको के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अश इसी युग का है। काव्य विज्ञान नाटय आदि के अतिरिक्त जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह दर्शन के क्षेत्र मे था। विभिन्न तत्त्वज्ञानियो ने जगत जीव ईश्वर के विषय मे मनुष्य के जीवन उसके कर्तव्य नीति–धर्म एव सामाजिक समस्याओ एव सुख दु ख की महती समस्या के

विषय मे मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल–पुथल बहुत ही कल्याणप्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश मे मानो ज्ञान के एक नये अधिदेवता का जन्म हुआ।

ज्ञ देवता

पाणिनि ने जानातीति ज्ञ इस अर्थ मे ज्ञ को स्वतन्त्र शब्द माना है। यह ज्ञ उस काल की परिभाषा मे क्षेत्रज पुरुष की सज्ञा थी– क्षेत्रज्ञ या आत्मा वही यह देखने वाला ज्ञाता या उपभोग करने वाला है और इसे ही साख्यशास्त्र मे पुरुष या ज्ञ (ज्ञाता) कहते है।[1] इसी क्षेत्रज पुरुष या ज्ञ पुरुष की खोज ही उपनिषद् युग का सर्वोपरि आदर्श था। पाणिनीय युग मे भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान थी और उस महान् आन्दोलन का जो सुफल था उसकी निधि जनता के पास थी। जिन व्यक्तियो ने तत्त्वदर्शन के इस आन्दोलन मे विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार यूनान मे लगभग समकालीन तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र मे जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे उसी प्रकार इस देश मे ज्ञ थे। पजञ्जलि ने ज्ञ नामक ब्राह्मणो का उल्लेख किया है जो ज्ञ देवता या तत्त्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे।

मति या दिट्ठि

उस युग मे दार्शनिक या तत्त्व चिन्तको के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य मे दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल मे वही दृश धातु है जिससे दर्शन शब्द बना है। पाणिनि ने दिट्ठि के लिये मति शब्द का प्रयोग किया है ४/४/६०। मत या ज्ञान के साधन को मत्य कहते थे।

पाणिनि ने अपने युग की दिट्ठियो का वर्गीकरण किया है जो जितना ही सक्षिप्त है। उतना ही मूलभूत और तात्त्विक है। उस युग के बौद्धिक मन्थन ने अनेक सख्यक मत या दिट्ठियो को जन्म दिया था।

---

१ गीता रहस्य–लोकमान्य तिलक पृ० १६२

पाणिनि ने इन्हे आस्तिक नास्तिक और दैष्टिक कहा है—अस्ति नास्ति दिष्ट मति ४/४/६०। दिटिठ या मतियो की सूची श्वेताश्वतर उपनिषद् १/२ मे दी है—कालवाद स्वभाववाद नियतिवाद यदृच्छावाद भूतवाद योनिवाद पुरुषवाद। इस सूची मे काल का पहला उल्लेख है। पाणिनि युग से पहले काल को सृष्टि का कारण मानकर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। पाणिनि के अनुसार कालवाची शब्दो को नयी प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी वे देवता मान लिये गये जिनकी पूजा होने लगी ४/२/३४/ नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लग। कालवादी दार्शनिको को ही अहोरात्रविद् कहा जाता था।

इसके बाद स्वाभाव को सृष्टि का कारण मानने वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रक्रियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वतवाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वाभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है कोई न करने वाला है और न कारण है ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं है।[1] बिना किसी हेतु के आकस्मिक सयोग से यह जगत् बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे जो पृथिवी जल तेज वायु इन चार भूतो से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे।

योनिवाद उस दिटिठ की सज्ञा थी जिसमे जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल मे जन्म लेने से ही मानव के जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है यही इनका मत है। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और सचालन होता है यही दृष्टिकोण था।[2]

नास्तिक मति के अर्न्तगत एक सम्प्रदाय बहुत प्रभावी था जिसे सबसे अलग नाम से पुकारा जाता था। यह मक्खलिगोशाल का नियतिवाद था। पाणिनि ने उसका अलग उल्लेख किया है वही दिष्टमति वाले या दैष्टिक थे। वे कर्म और मानुषी पराक्रम का खण्डन या उपहास करते थे। पतञ्जलि ने निश्चित शब्दो मे इस मत को उलिखित किया है —

१ महाभारत शान्ति पर्व २१५/१५–१६
२ महाभारत शान्ति पर्व अध्याय १७३– खतविज्जावाद जा० ५/२४०

माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि शान्तिपर्व श्रेयसी—व्याहातो मस्करी परिव्राजक ६/१/१५४

अर्थात मस्करी परिव्राजक का नाम इसलिये था क्योकि वह कहता था—कर्म मत करो बिल्कुल कर्म मत करो शान्ति से मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य मे मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। पतजलि ने जो बार—बार मा कर्म कार्षी कहा है उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनो प्रकार के कर्मो का निवारण है। महाभारत मे धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी बताया गया है।

अन्य शब्द

महेन्द्र

इन्द्र के लिये वृत्रहन् ३/२/८७ मरुत्वत् ४/२/३२ मघवन ४/४/१२८ के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी ४/२/२६ मे आया है। यह शब्द ऋग्वैदिक नही था। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार था। शतपथ ब्राह्मण मे शरीरस्थ पञ्च प्राणो को समिद्ध और सञ्चालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है।[1] यह मध्य प्राण ही इन्द्रियो को प्रेरित करने वाली शक्ति है। ब्राह्मण और उपनिषदो मे इन्द्र और इन्द्रियो के सम्बन्ध की विविध कल्पनाए पायी जाती है। इसी से पच इन्द्रियो को इन्द्र की पाच शक्तिया माना गया और उन पाच प्राणो को पञ्चेन्द्र के रुप मे कल्पित किया गया। महाभारत मे पाच इन्द्रो का उल्लेख आया है— पाण्डो पुत्रा पञ्च पञ्चेन्द्र कल्पा अर्थात पाण्डु के पाच पुत्र पाच इन्द्रो के समान है।[2] पञ्च प्राणो के अधिपति मुख्य प्राण को जैसे मध्य प्राण कहा गया उसी प्रकार पाच इन्द्रो मे प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया।

---

१ शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/२

२ महाभारत उद्योग पर्व ३३/१०३

इन्द्र और इन्द्रिय

पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति इन्द्र से की है। इन्द्रिय इतना सूत्र लिखकर भी यह अभीष्ट पूरा हो सकता था किन्तु आचार्य ने शब्दो की अत्यन्त उदारता से कारणवश यह विपुलसूत्र बनाया– इन्द्रियम इन्द्रलिगम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम इति वा–५/२/६३ इसमे पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द को इन्द्र से सम्बन्धित मानते हुये उसकी पाच व्युत्पत्तिया दी है और उसके बाद जो शेष रह गई उनके लिये इति वा लिखकर गुञ्जाइश कर दी है। इस सूत्र की वास्तविक पृष्ठिभूमि यास्क के निरुक्त अथवा ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् साहित्य मे प्राप्त होती है। यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तिया सङग्रीत की है जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियो के पारस्परिक सम्बन्ध की विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यताये थी।[1] पाणिनीय शब्दो के मूल मे वे ही मान्यताये है–

१ इन्द्र-लिगम्

इन्द्रिया इन्द्र के वाह्य लिग या प्रतीक है। काशिका मे लिखा है कि इस सूत्र मे इन्द्र आत्मा है।[2] प्रारम्भ मे असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण (प्राणा) थे। अमूर्त प्राण ने शरीर मे प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियो को सचालित करता है जो उसकी आध्यात्म सत्ता के चिन्ह है।[3] यही इन्द्रलिगम् की पृष्ठभूमि है।

२ इन्द्र-दृष्टम्

इन्द्रिया इन्द्र से दृष्ट हुई अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया। यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था–इद दर्शनात इति औपमन्यव । ऐतरेय आरण्यक मे भी यही मत है–इदम अदर्श तस्माद् इन्द्रो नाम ३/१४। इस शरीर मे आते ही इन्द्र ने इन्द्रियो को देख लिया अर्थात्

---

१ निरुक्त १०/८

२ इन्द्र आत्मा सा चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकतृक करणमस्ति – काशिका ५/२/६३

३ शतपथ ६/१/१/२

उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया इसी से वह इन्द्र कहलाया। आचार्य औपमन्यव प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनके मत का यास्क ने अन्यत्र भी उपन्यास किया है। पाणिनि ने यह व्युत्पत्ति वही से ग्रहण की ऐसी सम्भावना है।

३ इन्द्र सृष्टम्

इन्द्रियो की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आचार्य आग्रायण का मत कहा है—इद कारणादिति आग्रायण (नि १०/८) ऐतरेय उपनिषद् मे इसी मत का उल्लेख है—ता एता देवता सृष्टा (ऐतरेय उपनिषद् २/१) काशिका ने लिखा है—आत्मना सृष्ट तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा।

४ इन्द्र-जुष्टम्

इन्द्र से जुष्ट अर्थात प्रिय भाव से सहयुक्त होने के कारण इन्द्रियो का यह नाम पडा। जब इन्द्र इन्द्रियो के साथ रहता है बहिर्मुख होता है तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है—आत्मना जुष्ट सेवित तद्द्वारेण विज्ञानोत्पादनात्—काशिका। इन्द्र के प्रिय पान सोम का सचय इन्द्रिय रुपी पात्रो मे होता है वही से वह इन्द्र को प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इन्द्रियो को सोमग्रह कहा गया है (ग्रह = पात्र) २/२६। यास्क भी लिखते है कि इन्द्र को सर्वाधिक प्रसन्नता सोमपान से होती है। (इन्दौ रमते इन्दु = सोम)। इन्द्र और इन्द्रियो का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक इन्द्र जुष्टम पद है।

५ इन्द्र दत्तम्

इन्द्र ने इन्द्रियो को अपने विषय का भोग प्रदान किया है इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रिया कहलाती है— आत्मना विषयेभ्यो दत्त यथायथ ग्रहणाय—काशिका। ऐतरेय उपनिषद् मे यह कथा है— सब देव इस पुरुष मे प्रविष्ट हुये। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उनसे कहा अपने— अपने स्थान

मे प्रतिष्ठित हो जाओ यथानियत स्थानो मे बैठे हुए ये देव आज भी अपना–अपना कार्य कर रहे है। यही प्राचीन आख्यान पाणिनीय– इन्द्रदत्तम व्युत्पत्ति का मूल है।

६ इतिवा

सूत्र का यह अश उन व्युत्पत्तियो के लिये भी जो यहा उद्धृत नही की गई है सूत्रकार की मान्यता प्रदान करता है। इन्द्र की कुल १७ व्युत्पत्तिया प्राचीन वैदिक साहित्य और निरुक्त मे आयी है। काशिका मे कहा गया है कि इति शब्द व्युत्पत्ति के प्रकारो का सूचक है अतएव अन्य व्युत्पत्तिया भी सम्भव है। इति करण प्रकारार्थ। सति सभव व्युत्पत्तिरन्यथापिकर्तव्या रुढेरनियमादिति। वा शब्द प्रत्येकमभि सम्बध्यमानो विकल्पाना स्वातन्त्र्य दर्शयति–काशिका इस सूत्र मे आचार्य ने उदार शैली अपना कर शब्द–लाघव की अपेक्षा शब्द बाहुल्य से काम लिया।

परलोक

परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन मे तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी (सिध्यतेपारलौकिके ६/१/४६) जैसे–तप तापस सेधयति अर्थात तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान–विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय मे सिद्धि प्राप्त करता है।[1] लिप्स्यमान सिद्धौ च ३/३/७ की पृष्ठिभूमि मे भी इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिये इस लोक मे जो दान–दक्षिणा आदि दी जाती थी वे लिप्स्यमान कहलाती थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था जैसे–यो भक्त ददाति स स्वर्ग गच्छति अर्थात जो भोजन देता है वह स्वर्ग जाता है। वेदौ

---

१ तापस सिध्यति। ज्ञान विशेषमासादयदि। त तप प्रयुक्ते। स च ज्ञान विशेष उत्पन्न परलोके जन्मान्तरे फलम्भ्युदयलक्षणमुपसहरन् परलोकप्रयोजनो भवति–काशिका ६/१/४६

मे स्वर्ग के लिये नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ ब्राह्मण मे नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है न+अक अर्थात् नही है दु ख जहा वह नाक है।[1] पाणिनि ने भी ६/३/७५ सूत्र द्वारा इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है पाणिनि ने नि श्रेयस् शब्द का उल्लेख अपने ५/४/७७ सूत्र मे किया है। उपनिषद् युग का मोक्ष परमानन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी मे निर्वाण शब्द का भी उल्लेख आया है— निर्वाणोऽवाते ८/२/५०। काशिका मे इसके तीन उदाहरण है— निर्वाणेऽग्नि निर्वाणोदीप निर्वाणोभिक्षु इन तीनो मे ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्त्व भी बिल्कुल (बुझ) जाता है वही निर्वाण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के इस अर्थ मे बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

---

१ शतपथ ब्राह्मण ८/२/१/२४

षष्ठ-सोपान

षष्ठ-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित शिक्षा एवं साहित्य

शिक्षा

पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल मे वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुई। अष्टाध्यायी से उस काल के विभिन्न साहित्यिक रुप ग्रन्थ रचना के प्रकार शिक्षा सस्थाएँ आचार्य और अन्तेवासी छात्र शिक्षण प्रणाली अध्ययन के विषय आदि के सम्बन्ध मे बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य पाणिनि स्वय प्रमाण है उस युग के ज्ञान सूर्य के उत्थान के। उनका तपस्वी जीवन विश्लेषणात्मक कार्य प्रणाली विषय के अनुशीलन मे सूक्ष्मदृष्टि भाषा पर असामान्य अधिकार ग्रन्थ प्रणयन मे प्रतिभा एव सर्वोपरि दृढ सकल्प तथा महान् प्रयत्न ये गुण सदा के लिये भारतीय साहित्य पर अपनी छाप छोड गये है। उनके समकालीन शिक्षा जगत मे भी वे ओत–प्रोत थे जिसका परिणाम उस विशाल साहित्य के रुप मे हुआ जिसे सूत्र–साहित्य कहा जाता है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रगत शब्दो से शिक्षा एव साहित्य का तत्कालीन सामाजिक प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।

कुत्सित छात्र २/१/४२

नियमो का उल्लघन करने वाले छात्रो की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे जैसे– तीर्थध्वाक्ष तीर्थकाक जो अपने तीर्थ या गुरु मे कौए की तरह चञ्चल व्यवहार करे या गुरुकुल मे पूरे समय तक निवास न करके उसे शीघ्र बदलता रहे।[1]

---

1 ध्वाक्षेण क्षेपे २/१/४२ पर भाष्य यो गुरुकुलानि गत्वा न चिर तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक।

इसी प्रकार खटवारुढ शब्द उस छात्र के लिये प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन व्यतीत करने लगा हो—खटवाक्षेपे।

पाणिनि ने यह भी कहा है कि कुछ माणव और अन्तेवासी ऐसे होते थे जिनका पढने—लिखने मे मन न था केवल गुरुकुल का माल उडाने के लिये माणव बन जाते थे।[१] वाल्मीकि रामायण मे कठकालाप चरण के माणवो के विषय मे कहा है कि वे बडे जिह्वालोलुप (स्वादुकामा) और आलसी (अलसा) थे और पढाई का बहाना बनाकर काम—काज मे गुरु को धता दे जाते थे।[२]

गुरु

पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षको का उल्लेख किया है। १ आचार्य २ प्रवक्ता ३ श्रोत्रिय ४ अध्यापक। उपरोक्त मे आचार्य का स्थान सर्वोच्च था शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद मे आचार्यकरण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। आचार्य उपनयन सस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है।[३] इसी उदात्त कल्पना के आधार पर ब्रह्मचारी अन्तेवासी कहा जाता था। जिस प्रकार माता के गर्भ मे शिशु पोषण पाता है उसी प्रकार अन्तेवासी आचार्य के विद्यागर्भ मे सर्वभावेन आध्यात्मिक पोषण प्राप्त करता है। आचार्य और अन्तेवासी का यह सम्बन्ध यहॉ तक घनिष्ठ होता था कि आचार्य के ही नाम से अन्तेवासी का नाम पड जाता था जैसा कि आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ६/२/१०४। जिस प्रकार तित्तिर आचार्य के शिष्य तैत्तिरीय आपिशलि के आपिशल और पाणिनि के पाणिनीय कहलाते थे।

प्रवक्ता २/१/६५ - आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य कहा है अर्थात् शाखाग्रन्थ ब्राह्मण श्रौतसूत्र

---

१ ६/२/६६ पर काशिका की व्याख्या – भिक्षा लप्स्येऽहमिति माणवो भवति—काशिका

२ रामायण अयोध्याकाण्ड ३२/१८

३ अर्थववेद ११/५/३

आदि उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदाडगो का अर्थ सहित अध्यापन इनका कार्य था। इन्हे आख्याता भी कहा जाता था।[1] सूत्र २/१/६५ मे प्रवक्ता श्रोत्रिय अध्यापक इन तीनो का उल्लेख क्रमिक महत्व के अनुसार है।

श्रोत्रिय २/१/६५

छन्द या वेद की शाखाओ को कण्ठ करने वाला विद्वान् श्रोत्रिय कहलाता था। श्रोत्रियश्छदोऽधीते ५/२/८४। इनका सम्बन्ध विशेषत वेद के पारायण से था। वे सहिता पद क्रम दण्ड जटा घन आदि पाठो के अनुसार शाखा ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वय को कण्ठ करते थे एव विद्यार्थियो को कराते थे। इनके निर्देशन मे रहकर विद्यार्थियो का जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था इसी प्रकार क्रमपाठ कण्ठस्थ किये हुये छात्र क्रमक एव वे गुरु भी अपने कण्ठस्थ किये हुये वेद पाठ के आधार पर उस–उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ऐसा प्रतीत एव ज्ञात होता है कि बडे–बडे चरणो मे भिन्न–भिन्न पाठ कण्ठस्थ कराने के लिये भिन्न–भिन्न अध्यापक होते थे। कोई पदक कहा जाता था और कोई क्रमक। जो जिस प्रकार के पारायण के श्रावक होते थे वह उसी के आधार पर पदक या क्रमक कहा जाता था– तदधीते तद्वेद के साथ उसका अर्थ क्रम वेद क्रमक पद वेद पदक होता है।

अध्यापक २/१/६५

पाणिनि ने कृते ग्रन्थे या अधिकृत्य कृते ग्रन्थे सूत्रो मे जिस साहित्य का उल्लेख किया है उस वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढाते थे। इन्हे ही आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य मे कण्डिकोपाध्याय नाम मिलता है।

---

१ आख्यातोपयोगे १/४/२६ महाभारत उद्योग पर्व ४३/३२

अध्याय ३/३/१२२

शिक्षा सस्था मे अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे। अधीयतेऽस्मिन इति अध्याय इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहे। पाणिनि ने इस बात का उल्लेख किया है कि अध्ययन मे देश और काल सम्बन्धी कुछ नियम थे उनका उल्लघन करके जो छात्र देश विरुद्ध और काल विरुद्ध अध्ययन करता था उसका नाम उसी प्रकार पड जाता था— अध्यायिन्यदेशकालात् ४/४/७१। इस प्रकार का उल्लेख काशिका मे आया है कि जो छात्र श्मशान मे या चौराहे पर पढता था उसका नाम श्मशानिक या चातुष्पथिक होता था। जानबूझकर श्मशान मे जाकर कोई विद्यार्थी क्या पढता ? ऐसा प्रतीत होता है कि श्मशान यात्रा के कारण सभी छात्र जब पाठ बन्द रखते उस दिन भी जो वहॉ पढता उसके लिये ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था इसी प्रकार जब किसी हाट—मेले के कारण औरो का पाठ बन्द रहता तब भी जो पढता वह चातुष्पथिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावस्यिक उदाहरणो से सूचित होता है कि चतुर्दशी और अमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दो मे जो निन्दा का भाव था वह स्थायी नही उसी काल तक के लिये होता था।

एक ही चरण मे पढने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी—चरणे ब्रह्मचारिणि ६/३/८६। एक ही गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्रो को सतीर्थ्य कहा जाता—समानतीर्थे वासी ४/४/१०७ तीर्थे ये ६/३/८७।

जिन सस्थाओ मे अध्ययन के विषय और ग्रन्थो का इतना विस्तार था वहॉ यह आवश्यक था कि छात्रो को कक्षा या वर्गो मे बॉटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था १ जो छात्र एक विषय का एक समय मे अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी। २ कभी—कभी ऐसी एकाधिक कक्षाओ के छात्र कार्य विशेष के लिये एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षाये पृथक होते हुये

भी पाठयक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के बाद पडती हो अर्थात उनमे अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो – अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् २/४/५। उदाहरणार्थ– क्रम पाठ पढने वाले छात्र क्रमका कहलाते थे। इसी प्रकार ही पद पाठ की कक्षा वाले पदका – क्रमादिभ्यो वुन् ४/२/६१। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था अतएव क्रमक एव पदक ये दो कक्षाए एक दूसरे से सन्निकट थी। उनमे और किसी का व्यवधान न था इसलिये उन दोनो के नामो का जोडा भाषा मे चल जाता था उसे पदक्रमकम् इस एक वचनान्त पद से प्रकट करते थे। यह ठीक उसी प्रकार था जैसे आजकल बी ए एम ए इन दो नामो को एक साथ बोला जाता है। जब कभी निमत्रण आदि के लिये छात्रो को बाहर जाना होता तो आचार्य इस प्रकार कहते– पदक–क्रमक गच्छतु अर्थात् आज पदक और क्रमक छात्र वहॉ जॉय। काशिका मे क्रमकवार्तिकम् उदाहरण और दिया है जिससे यह ज्ञात है कि जैसा पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढने की प्रथा थी वैसे ही क्रमपाठ के बाद वृत्ति का अध्ययन किया जाता था। क्रम और वृत्ति इन दोनो का प्रत्यासन्नपाठ था। वृत्ति से तात्पर्य व्याकरण सूत्रो की वृत्ति ज्ञात होता है। इससे यह सूचित होता है कि पदपाठ और क्रमपाठ का पारायण पहले सब छात्रो को करा दिया जाता था और उसके बाद व्याकरण की पढाई आरम्भ होती थी। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी यही बात लिखी है।[1]

स्त्री शिक्षा ४/१/६३

पाणिनि और पतञ्जलि दोनो ने वैदिक चरणो मे अध्ययन करने वाली स्त्रियो का उल्लेख किया है। जातेरस्त्रीविषयादयो– पधात् ४/१/६३ सूत्र मे जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्र और चरण दोनो का ग्रहण किया गया है– गोत्रञ्च चरणानि च भाष्य। इस प्रकार कठचरण मे अध्ययन करने वाली छात्रा कठी और ऋग्वेद के बह्वृच् चरण बह्वृची कहलाती थी।

१ पुराकल्प एतदासीत सस्कारोत्तर काल ब्राह्मणा व्याकरण स्माधीयते तेभ्यस्तत्र स्थानकरणा नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दा उपदिश्यन्ते तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्यत्वरिता वक्तारो भवन्ति– महाभाष्य पस्पशाह्निक।

छात्रो के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओ के लिये लागू थे उदाहरणस्वरुप आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशिला ब्राह्मणी कहलाती थी। इसी प्रकार पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री पाणिनीया ब्राह्मणी थी। भाष्य से यह भी ज्ञात होता है कि मीमासा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियो के लिये विहित था यथा—काशकृत्स्नि आचार्य के मीमासाशास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्रा काशकृत्स्ना कही जाती थी।[1] पतञ्जलि ने नियमित अध्ययन करने वाली इन छात्राओ को अध्येत्री कहा है। भाष्य मे स्त्री छात्राओ के नामकरण का जो प्रकरण है उसकी पृष्ठभूमि ऐसी है मानो स्त्रियो की उच्चशिक्षा समाज की एक सामान्य सी बात हो। पाणिनि ने इन अध्येत्री स्त्रियो के लिये निर्मित छात्रिशालाओ का उल्लेख किया है— ६/२/८६। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती ही थी किन्तु जो स्वय आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र मे ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य कराती थीं और छात्राओ के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थीं उन्हे आचार्या कहते थे। भाष्यकार ने एक उदाहरण मे यहॉ तक सकेत किया है कि इन आचार्याओ से पुरुष छात्र भी पढते थे जैसे—औदमेध्या आचार्या से पढने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेध कहलाते थे।[2] यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार शाकल आदि चरणो के विद्यार्थी सघ आदर्श के अनुसार अपना सगठन बना लेते थे जो शाकल सघ आदि नामो से प्रसिद्ध होते थे ऐसे ही औदमेध्या के छात्रो के सघ का औदमेधा यह बहुवचनान्त नाम पडता था। कठीवृन्दारिका जैसा शब्द कठ शाखा की उस छात्रा के लिये भाषा मे प्रयुक्त होता था जो अपने चरण मे विशेष कीर्ति या अग्र पद प्राप्त करती थी। षष्टि पथ और शतपथ का अध्ययन करने वाली स्त्रियॉ षष्टिपथिकी और शतपथिकी कहलाती थी।[3] माणव की तरह अनुपनीत कुमारी छात्रा माणविका कही जाती थी।

---

१ एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमासा काशकृत्स्नी काश कृत्स्नमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी— ४/१/१४ भाष्य

२ औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेधा ४/१/७६ वा १ भाष्य

३ शतषष्टे षिकन्पथ — काशिका ४/२/६०

चरण ४/२/४६

चरण उस प्रकार की शिक्षा सस्था थी जिसमे वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिसका नाम मूल सस्थापक के नाम से पडता था। इसका प्रबन्ध सघ के आदर्श पर होता था।[1] वैदिक साहित्य के विविध अगो का विकास चरणो मे हुआ था जैसे मूल सस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा मत्रो की अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करने वाला ब्राह्मण ग्रन्थ एव श्रौत सूत्र आदि कल्पग्रन्थ। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणो मे वैदिक साहित्य का इतना विकास सम्पन्न हो चुका था– ४/२/६६ ४/३/१०५। वस्तुत वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थो का चरणो के साथ ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनो प्रकार के साहित्य का नामकरण चरणो मे उनका अध्ययन अध्यापन करने वाले (अध्येतृ–वेदितृ) विद्वान् गुरु–शिष्यो के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। छन्द या शाखाये ग्रन्थ मात्र नहीं रह गई थीं बल्कि उन्होने सस्थाओ का रुप ले लिया था जिसमे ब्राह्मण आरण्यक श्रौत सूत्र आदि साहित्य का भी समावेश हो गया था। पाणिनि काल मे चरणो का विकास एक सीढी और आगे पहुँच चुका था अर्थात् श्रौत सूत्र या कल्प ग्रन्थो के बाद धर्म सूत्रो की रचना भी चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गई थी। चरणेभ्यो धर्मवत् ४/२/४६ सूत्र मे आचार्य ने इसी का उल्लेख किया है वार्तिककार कात्यायन ने इसी पर वार्तिक लिखा है– चरणाद् धर्माम्नाययो। वैदिक चरणो के विकास की यह अन्तिम कडी थी। जब धर्म सूत्रो का अध्ययन चरणो मे हुआ उसी युग मे कितने ही नये विषयो का अध्ययन चरणो के बाहर भी होने लगा था जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणो की अपेक्षा सम्भवत सरल थे। एक बार जब गुरु या शास्त्रज्ञ लोगो के स्वतत्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरु हुई तो फिर चरणो की वह बॅधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गई। यास्क कृत निरुक्त एव पाणिनि कृत अष्टाध्यॉयी इसी प्रकार के स्वतत्र शास्त्र और ग्रन्थ थे जिन पर किसी एक चरण का सर्वाधिकार न था और जिनका

१ चरण शब्द शाखानिमित्तक पुरुषेषु वर्तते–काशिका २/४/३

निर्माण और अध्ययन चरणो के बाहर हुआ और होने लगा था। पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी के विषय मे यह बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी है कि उसका सम्बन्ध किसी एक चरण से न था बल्कि सभी चरणो की परिषदे उन्हे अपना रही थी।

सर्व वेद हीद शास्त्रम् (२/१/५८) (६/३/१४)– भाष्य। नये शास्त्रो की रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहॉ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो सब चरणो को उन्हे अपने पाठ्यक्रम मे स्वीकार कर लेना पडता था।

छात्रों के नामकरण

छात्रो के नामकरण के तीन आधार थे। १ अध्ययन के विषय के अनुसार २ जिस चरण मे शिक्षा पाते हो उसके अनुसार ३ जिस गुरु के यहॉ या जिसके ग्रन्थ पढते हो उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रो के नामकरण का विधान ४/२/६०–६२ सूत्रो मे है। ऋतु या सोमयज्ञो का अध्ययन करने वाले छात्र उन यज्ञो के नाम से अग्निष्टोमिक वाजपेयिक राजसूयिक–ऋतूक्थादिसूत्रान्ताटठक ४/२/६०। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक– क्रमादिभ्यो वुन ४/२/६१। अनुब्राह्मण नामक विशेष ग्रन्थो के विद्यार्थी अनुब्राह्मणी–अनुब्राह्मणादिनि ४/२/६२ कहलाते थे। इस प्रकरण मे उक्थादिगण महत्वपूर्ण है जिसमे अनेक प्रकार के नये–नये अध्ययन विषयो का उल्लेख है। यज्ञीय कर्मकाण्ड का अध्ययन करने वाले छात्र याज्ञिक कहे जाते थे। याज्ञिक का उल्लेख अन्यत्र भी किया गया है ४/३/१२६। ऋतुओ के अनुसार अध्ययन के विषयो मे क्रमिक परिवर्तन होता रहता था जैसे–वसन्त ऋतु मे जिस ग्रन्थ का पाठ हो उसका नाम भी वसन्त पड जाता था और वसन्त ऋतु की उस कक्षा के छात्र भी वासन्तिक कहे जाते थे।[1] स्मृतियो से ज्ञात होता है कि माघ शुक्ल पञ्चमी अर्थात् वसन्तपञ्चमी के दिन प्राचीन

१ वसन्तादिभ्यष्ठक ४/२/६३ वसन्तसहचरितोऽय ग्रन्थो बसन्तस्तमधीते– काशिका ४/२/६३

विद्यालयो का वसन्त सत्र आरम्भ होता था और उस समय विशेषत वेदागो का अध्ययन किया जाता था।[1] उससे पूर्व श्रावणी पूर्णिमा से पौष की अमावस्या तक या भाद्र पूर्णिमा से माघ की अमावस्या तक ४ ५ महीने का सत्र विशेषत छन्दो के अध्ययन या वैदिक पारायण के लिये होता था।[2] वर्षा शरत् हेमन्त शिशिर आदि ऋतुओ मे भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिये कुछ विषय या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रो को वार्षिक शारदिक हैमन्तिक एव शैशिरिक कहा जाता था।[3] वर्तमान काल मे भी कुछ इसी ढग पर वसन्त ग्रीष्म शरद् आदि ऋतुओ मे महीने दो महीने की विशेष आख्यानमालाये आयोजित की जाती है।

वैदिक छात्रों का नामकरण

चरणो के अन्तर्गत भिन्न–भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढाये जाते थे। उनके अध्येता छात्रो का नाम उन छन्द ग्रन्थो के नाम से रखा जाता था जैसे तित्तिरि आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुत स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनो का कोई स्वतत्र नाम न था बल्कि उनके पढने वाले छात्र और पढाने वाले गुरुओ के नाम से ही ग्रन्थो का नाम लोक मे प्रचलित होता था– छन्दो ब्रह्मणानि च तद्विषयाणि ४/२/६६।

तद् विषयता का नियम

तदधीते तद्वेद प्रकरण मे अष्टाध्यायी मे तद्विषयता का नियम बहुत महत्वपूर्ण है। शाखा का मूलप्रवर्तक प्रत्यक्षकारी कहलाता था (४/३/१०४ वा) वही चरण का सस्थापक आचार्य भी होता था। उसकी छान्दस शाखा का अध्ययन उस चरण के विद्यार्थी करते थे। आचार्य कठ और उसके द्वारा प्रोक्त छान्दस ग्रन्थ– इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये पहले कठ शब्द मे

१ मनु ४/९८
२ मनु ४/९५
३ ४/२/६३ गणपाठ

एक प्रत्यय जोडा जाता था। उसका विधान पाणिनि ने 'तेन प्रोक्तम ४/३/१०१ सूत्र मे किया है। इस प्रकार जो शब्द रुप बनता था उससे फिर एक दूसरा प्रत्यय उस ग्रन्थ के पढने वाले या पढाने वाले इन दो अर्थो को व्यक्त करने के लिये जोडा जाता था। इस प्रत्यय का विधान तदधीते तद्वेद इस सूत्र मे किया गया है। पहला प्रोक्त प्रत्यय और दूसरा अध्येतृ–वेदितृ प्रत्यय कहलाता था। प्रोक्ताल्लुक ४/२/६४) सूत्र से विद्यार्थी वाची दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है किन्तु उसका अर्थ शब्द मे बना रहता है। फलत छन्द और ब्राह्मण के नाम का जो रुप प्रोक्त प्रत्यय लगाने से बनता था उसका अर्थ तदधीते तद्वेद् के अनुसार उस शाखा और ब्राह्मण के पढने–पढाने वालो के लिये किया जाता था अतएव वैदिक मूल ग्रन्थो का नाम सदा उनके छात्रो का ही बोधक होता था जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त जो कठ शाखा थी उसके पढने–पढाने वालो (अध्येतृ–वेदितृ) का नाम कठा होता था। कठ जो साधारणत कठ प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिए था उन सब छात्र और गुरुओ का बोध कराता था जो उसको पढते (अधीयान) और पढाते (तद्वेद) थे। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढी आगे बढकर चरण का नाम बन गया। यही तद्विषयता का नियम था अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नामकरण स्वतत्र न होकर अध्येतृ–वेदितृ परक होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नये व्याख्या ग्रन्थो की रचना भी करते रहते थे। उनकी शिष्य परम्परा मे आगे आने वाले लोग भी उन व्याख्यानो और विमर्शो मे अपना–अपना भाग जोडते रहते थे। किन्तु उन सबका नामकरण स्वतत्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था जैसे–तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण मे तैत्तिरीय शाखा तैत्तिरीय ब्राह्मण तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त तैत्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। जब तक वैदिक चरणो का सगठन दृढ रहा नामकरण की यही पद्धति प्रचलित रही। आगे चलकर वैदिक चरणो के अन्तर्गत कल्प साहित्य की भी रचना हुयी जिसमे श्रौत सूत्र आदि थे–

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४/३/१०५। कुछ चरणो मे धर्मसूत्रो का भी निर्माण हुआ— चरणेभ्यो धर्मवत ४/२/४६। इन सबका नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण सस्थाओ का समान महत्व न था उनमे कुछ प्रधान या बडे और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणो मे तो छन्द (शाखा) ब्राह्मण आरण्यक उपनिषत् प्रातिशाख्य श्रौतसूत्र आदि पूरे या अधिकाश साहित्य का विकास हो गया था पर छोटे चरण उसी परम्परा मे एकाध सूत्रग्रन्थ ही बना पाते थे उनका साहित्यिक प्रयत्न उसी तक सीमित रह जाता था। इन्हे सूत्र चरण कहते थे। एक सूत्रग्रन्थ के निर्माण द्वारा वे अपना अस्तित्त्व चरितार्थ करते थे। वैदिक शाखाओ मे कुछ का अधिक महत्व था कुछ का कम। कुछ मे स्वतन्त्र सामग्री अधिक होती थी कुछ मे नाममात्र का पाठ परिवर्तन रहता था।

छात्रो का बढता हुआ एक नया वर्ग ऐसा भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा सस्थाओ से स्वतत्र रहकर उन ग्रन्थो का अध्ययन करता था जिनकी रचना चरणो की सीमित परिधि से बाहर बडे वेग से हो रही थी। वस्तुत यह महान् आचार्यो का युग था। शाकटायन और आपिशलि स्फोटायन और भारद्वाज आदि महान् आचार्यो ने व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र मे बिल्कुल नयी रचनाए की थी। उनकी रचनाओ का पठन—पाठन लोक मे व्यापक रुप से होने लगा था। स्वय पाणिनि इसी प्रकार के धुरन्धर आचार्य थे जिन्होने एक नये शास्त्र का प्रणयन किया। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करता वह उसी नाम से पुकारा जाता जैसे— आपिशलि के आपिशल शाकटायन के शाकटायनीय और पाणिनि व्याकरण के पाणिनीय कहलाते थे। वैदिक चरणो का क्षेत्र इसकी अपेक्षा कही व्यापक था किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतत्र आचार्य और उनके शास्त्रो की सख्या उत्तरोत्तर बढ रही थी। पाणिनि ने ऐसे ही आचार्यो को उपज्ञाता ४/३/११५ और उनके द्वारा नये नये विषयो के विवेचन को आद्य आचिख्यासा कहा है। २/४/२१।

उपज्ञात ४/३/११५

पारायण विधि द्वारा वेद वेदाडगो को कण्ठस्थ कर लेना शिक्षण विधि का एक अग था इससे तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नो का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदो को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतञ्जलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुये इसमे अरुचि प्रकट की है। बिना समझे–बूझे कण्ठ फाड कर घोखना ऐसा ही है जैसे अग्नि के बिना सूखे कण्डो का ढेर हो।[1] यह मानना पडेगा कि सूत्र युग मे ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगो का सविशेष ध्यान था। पाणिनि की अष्टाध्यायी शब्दो के सग्रह और विश्लेषण मे किये गये भूरि परिश्रम का फल थी। यास्क के निरुक्त एव शाकटायन और आपिशलि के व्याकरण भी इसी प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति के परिणाम थे। इस प्रकार मौलिक चिन्तन और सामग्री के सकलन एव विश्लेषण से जिन नये शास्त्रो की उद्भावना की जाती थी उन्हे पाणिनि ने उपज्ञात कहा है ४/३/११५। पुराने ग्रन्थो के व्याख्यान से उपज्ञात साहित्य भिन्न प्रकार का था। पाणिनि का व्याकरण उपज्ञात कोटि मे था– पाणिन्युपज्ञ व्याकरण पाणिनिना उपज्ञात पाणिनीयम्।

छात्र ४/४/६२ - शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी– तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५/१/६४। इसमे न केवल शिक्षा बल्कि ज्ञान सञ्चय की चर्चा या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरु और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बधे होते थे ४/३/७७। यह सम्बन्ध योनि सम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभावपूर्ण था। शिष्य अन्तेवासी के रुप मे आचार्य के साथ ही निवास करते और सच्चे अर्थो मे आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या सस्थान मे अन्य ब्रह्मचारियो के साथ विद्याध्ययन करते थे। आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा सस्थापित चरणो के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण

---

१ यदधीतमविज्ञात निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैंधो न तज्ज्वलति कहिचित्।। –महाभाष्य पस्पशाह्निक

क्षत्रिय वैश्य इन तीनो वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे— वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५/२/१३४। यह शब्द सहिता और ब्राह्मणो मे अविदित था। गुरु से पढने वालो के लिये छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था— छात्रादिभ्योण ४/४/६२। छात्र शब्द के मूल मे यह कल्पना बडी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था— छत्र शीलमस्य। यह एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरु के प्रति विशेष जागरुक रहकर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था— गुरुकार्येष्ववहित। काशिका मे भी लिखा है कि वह अपने गुरु की त्रुटियो की ओर मन को ले जाकर (तच्छिद्रावरणप्रवृत्त) कभी अपनी शक्ति का छय नही करता था। ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि केवल मेरे सदाचरण पर ही ध्यान देना त्रुटियो पर नही।

छात्र दो प्रकार के होते थे— (१) दण्डमाणव (२) अन्तेवासी— दण्डमाणवान्तेवासिषु ४/३/१३०। दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था ६/२/६९। वह अभी छोटी श्रेणियो मे सीखतर छात्र होता था जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है वेद की पढाई शुरु होने के पहले उसकी माणव सज्ञा होती है।[1] मतग जातक मे माणव को बाल कहा गया है।[2] जब वेद पढने का समय आता तो आचार्य माणव का उपनयन सस्कार कराते थे इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस सस्कार के बाद वह माणवक सच्चे अर्थो मे आचार्य का सामीप्य प्रापत करता था।[3] मनसा वाचा कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था ४/३/१०४ ४/३/१३०। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य मे कमण्डलु—पाणि छात्र का उल्लेख मिलता है। चरण मे पढने वाले सभी अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी

---

१ अनुचो माणवे ब्रह्मश्चरणाख्यायामिति ५/४/१५४ महाभाष्य

२ मतडग जातक ४/३७९

३ आचार्यकरणमाचार्य क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीप प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्य सपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानभाचार्यीकुर्वन्माणवकमात्मसमीप प्रापयतीत्यर्थ — काशिका ४/३/१०४

कहे जाते थे– चरणाद् ब्रह्मचारिणि उपनयन होने के बाद छात्र और गुरु दोनो के बीच जो नया विद्या सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनो एक दूसरे के लिये उपस्थानीय बन जाते थे अर्थात् शिष्य गुरु के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे और गुरु अपने अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे। दोनो के लिये अत्यन्त मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन करने की दशा मे आचार्य को अनूचान ३/२/१०६ एव प्रवचनीय[1] ३/४/६८ कहते थे। छन्दो का अध्ययन करने वाले शिष्य की सज्ञा शुश्रूषु होती थी क्योकि वह श्रुति के पारायण या श्रवणीय को कान से सुनकर धारण करता था ३/२/१०८। अपने पिता से ही अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे। आचार्य कुल मे आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्त्व रखता था अतएव उसके लिये भाषा मे आचार्य पुत्र इस विशेष शब्द की उत्पत्ति हुयी। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे ६/२/१३३। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते थे जैसा कात्यायन ने लिखा है– गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा १/१/५६ वा १। गुरुपुत्र मे भी गुरु जैसी वृत्ति उचित थी।[2]

पारायण ५/१/७२ - वैदिक शाखा ग्रन्थ या छन्दो को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे– श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ५/२/८४। सहिता पाठ (निर्भुज) पद पाठ (प्रतृण्ण) क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने वाला पारायणिक होता था– पारायण वर्तयति ५/१/७२। श्रावणी या भाद्रपद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद ४ $^1/_2$ माह तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक था। बौधायन एव अन्य गृह्यसूत्रो मे वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। पारायणिक ब्रह्मचारी या श्रोत्रिय स्थण्डिल पर शयन करता था अतएव उस समय उसे स्थाण्डिल कहते थे (स्थण्डिलाच्छयितरि

---

१ प्रवचनीयो गुरु स्वाध्यायस्य – काशिका ३/४/६८

२ महाभारत उद्योग पर्व ४४/१२

व्रते ४/२/१५) । उस अवधि मे वह पारायण के अतिरिक्त और कुछ न बोलने का व्रत लेने के कारण वाचयम कहलाता था— वाचियमो व्रते ३/२/४० । उस समय अर्थात् व्रत के समय वह आहार मे भी सयम करता था कभी केवल दुग्ध पीकर ही रह जाता था उस समय उसे पयो व्रतयति कहा जाता था। एक से अधिक पारायण करने की प्रथा भी थी। ऐसे लोगो को द्वैपारायणिक कहा जाता था जो जीवन मे दो पारायण कर लेते थे। छात्रावस्था के बाद भी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दो को कण्ठ करना उस समय की शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अग बन गया था। पतञ्जलि ने तो लिखा है कि पढाई का आरम्भ ही वेद कण्ठस्थ करने से होता था। उसके बाद किसी का मन हुआ तो वह व्याकरण पढता था। कण्ठ करते समय छात्र स्वय बहुत परिश्रम करते थे और श्रोत्रिय लोग भी उनके साथ परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रो को अधिक परिश्रम के बिना (अकृच्छ्र) ग्रन्थ कण्ठस्थ हो जाता था। उनके लिये भाषा मे इस प्रकार का प्रयोग था— अधीयन् पारायणम धारयन्नुपनिषदम — इङ्धार्यो शत्रकृच्छ्रिणि ३/२/१३० ।

कुछ सूत्रो से कण्ठस्थ करने की प्रक्रिया पर प्रकाश पडता है। एक तो जितनी बार घोखने से ग्रन्थ कण्ठस्थ होता हो उतने अध्ययन या आवृत्ति की सख्या प्रकट करने के लिये भाषा मे प्रयोग थे जैसे— पञ्चकोऽधीत सप्तकोऽधीत अष्टक नवक अर्थात् पाच आवृत्ति या पाच बार मे जिसका अध्ययन पक्का हो उसके लिये इस प्रकार कहा जाता था अथवा पाच प्रकार से जो अध्ययन या आवृत्ति की जाय वह भी पञ्चक कहलाती थी— पञ्च रुपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्। दूसरी बात यह थी कि पारायण करते समय जो अशुद्धियॉ होती है उन्हे भी प्रकट करने के लिए भाषा मे प्रयोग थे। या तो एक पद अशुद्ध निकल जाता— पद मिथ्या कारयते या स्वर की अशुद्धि होती— स्वरादि दुष्टम् या बार—बार वही अशुद्धि हो जाती— असकृदुच्चारयति मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे १/३/७१। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा—काल मे जिससे जितनी अशुद्धिया हो उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे।

दस तक के सख्यावाची शब्दो मे दो अच् होते है पर सूत्र मे बह्वच सख्या शब्दो से भी ऐसे प्रयोग बनाने का विधान है ४/४/६४ जैसे– द्वादशान्यिक त्रयोदशान्यिक चतुर्दशान्यिक अर्थात् जो पारायण मे १२ १३ अथवा १४ अशुद्धियॉ करे। इस प्रकार छन्दो को कण्ठस्थ करने मे जो कठिन परिश्रम किया जाता उसी का यह सुफल होता कि ऋग्वेद तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण जैसे महाग्रन्थो को लोग सस्वर कण्ठस्थ कर लेते थे और पीढी दर पीढी उनकी रक्षा करते रहते थे।

वृत्त ७/२/२६

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति वृत्त कहलाती थी– णेरध्ययने वृत्तम् ७/२/२६ जैसे– देवदत्त ने कहॉ तक पढा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता था– वृत्तो गुणो देवदत्तेन अर्थात् देवदत्त ने व्याकरण मे गुण प्रकरण पढ कर समाप्त लिया है वृत्त पारायण देवदत्तेन – देवदत्त ने वैदिक पारायण समाप्त कर लिया है। इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने के दो ढग भाषा के प्रयोग मे चलते थे।

वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओ के अनुसार किया गया था ४/२/६३। प्रत्येक ऋतु मे जो विषय पढाये जाते है उनका सकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे जैसा– वसन्त सज्ञक ग्रन्थ से वासन्तिक छात्र वर्षा के वार्षिक आदि। इस सूची मे ग्रीष्म का नाम नही है। सम्भवत आजकल की तरह उस समय भी ग्रीष्म या जेठ–आषाढ के तपते महीनो मे पढाई बन्द रहती थी।

साहित्य

प्रकथन १/३/३२

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार की आशु कविता थी जैसे—गाथा प्रकुरुते। काशिका से हमे ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छन्दोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। परिप्लव आख्यान मे कहा गया है कि वीणागाथी अथवा वीणागणगिन अपनी बनाई हुई गाथाओ को वीणा पर गाता था।[1] गै धातु से जिस गाक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्र मे की गई है उसका सम्बन्ध मूल मे गाथाकार से ही ज्ञात होता है।

लिपिकर ३/२/२१

पाणिनि के समय मे लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश मे था या नही इसे पश्चिमी लेखको ने विवाद का विषय बना दिया है। वैसे अष्टाध्यायी मे स्वय ऐसे दृढ प्रमाण है जिससे इस प्रकार की शका का उत्थान ही अनावश्यक है। उस समय की शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी लिखित ग्रन्थो का अधिक प्रचलन नहीं था लेकिन यह कहना कि लिपि का ज्ञान ही लोगो को नहीं था तथ्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता है।

लिपिकर का दूसरा उच्चारण लिबिकर भी ३/२/२१ सूत्र मे दिया है। मौर्य युग मे लिपि शब्द लिखने के लिये प्रयुक्त होता था। तीसरी शती ई पू मे अशोक ने अपने स्तम्भ लेख और शिलालेखो को धम्मलिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिलालेख स दो मे लेख खोदने वाले को लिपिकर कहा गया है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र मे इस शब्द का प्रयोग किया है।[2] अर्थशास्त्र मे साकेतिक लिपि को सज्ञा लिपि कहा गया है।[3] इस प्रकार से स्पष्ट है कि पाणिनि काल मे लिपि का अर्थ लेखन क्रिया एव लेखन चिह्न थे।

---

१ स्वय सभृता गाथा गायति शतपथ ब्राह्मण १३/४/३/५

२ अर्थशास्त्र १/५

३ अर्थशास्त्र १/१२

पाणिनि ने पशुओ के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिन्ह अकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है कई चिन्हो मे अष्ट और पञ्च भी है जो ८ एव ५ सख्या के लिये प्रयुक्त चिह्न थे। अनपढ ग्वाले भी इन चिह्नो को देखकर पहचान लेते थे इससे उनका व्यापक प्रचार सिद्ध होता है।

इष्ट ४/२/७

साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है उसका सकेत करते हुये सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था उन्होने समस्त साहित्य को इष्ट प्रोक्त उपज्ञात कृत और व्याख्यान इन रुपो मे बॉट दिया है।

ऋषियो ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था उसे 'इष्ट वर्ग मे रखा जा सकता है। पाणिनि ने विशेष रुप से सामवेद के गान सूक्तो का इस प्रसङग मे नामोल्लेख किया है जैसे— कालेय साम ४/२/८ और वामदेव साम ४/२/६। ऋग्वेद सहिता का भी आचार्य को परिचय अवश्य था। ऋग्वेद के सूक्त ५/२/५६ अध्याय और अनुवाको ५/२/६० का उन्होने उल्लेख किया है।

व्याख्यान

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्या तव्यनाम्न ४/३/६६ धार्मिक और लौकिक विषयो के फुटकर ग्रन्थो पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य मे आते थे। ये कुछ मौलिक रचनाये न थीं बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये इनकी रचना उस समय बडे वेग से हो रही थी जैसे वैदिक अध्यायो और मन्त्रो के अर्थ समझाने के लिये या उसके विभिन्न पाठो की युक्ति बताने के लिये या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये या वेदाङग सम्बन्धी विषयो के व्याख्यान के लिये अथवा दर्शन विज्ञान ज्योतिष अकविद्या आदि फुटकर विद्याओ को स्पष्टता से समझाने के लिये। इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणो से स्पष्ट होता है जो स्वय पाणिनि ने इस प्रकरण मे दिये है जैसे— सोम क्रतुओ के व्याख्यान ग्रन्थ अथवा

पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश सम्बन्धी मन्त्रो की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ अथवा नामिक और आख्यातिक जैसे व्याकरण सम्बन्धी व्याख्यान ग्रन्थ। एक प्रकार वर्तमान पद्धतियो के ढग की पुस्तके रही होगी। व्याख्यान साहित्य के निर्माण मे बहुत से छोटे-छोटे लेखक भी अपनी-अपनी विद्या एव बुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे जैसा कि उत्पात निमित्त आदि अति सामान्य विषयो पर लिखे गये ग्रन्थो से ही सूचित होता है। निमित्तो का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त और उन्हे बताने वाला व्यक्ति नैमित्तिक कहा जाता था। उस समय नक्षत्रो के फलाफल का विचार करना हस्त रेखा देखना या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन बातो मे भी लोगो की काफी रुचि हो गई थी जैसा कि जातक कहानियो से विदित होता है। पाणिनि ने इस तरह की पूछताछ को विप्रश्न कहा है। राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्न १/४/३६ सूत्र तत् सम्बन्धी भाषा प्रयोगो का उल्लेख किया गया है जैसे- देवदत्ताय राध्यति देवदत्ताय ईक्षते।[1]

कृत ४/३/८७, ४/३/११६

इस श्रेणी के साहित्य मे साधारण ग्रन्थो का समावेश किया गया जिनका नामकरण या तो उनके विषय से- अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४/३/८७ या लेखक के नाम से- कृते ग्रन्थे ४/३/११६ होता था। अनुष्टुप् श्लोक और उसके साथ श्लोककार ३/२/२३ कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र ही काव्य और नाटकरूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरणार्थ- सौभद्र (सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ) यायात (ययाति के उपाख्यान पर आश्रित) वारुरुचा श्लोका (वररुचि के बनाये श्लोक) ये सब काशिका मे उद्घृत कृत साहित्य के उदाहरण है। स्वय पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय इन्द्रजननीय यमसभीय इन तीन कृत ग्रन्थो का उल्लेख किया है।

कृत और उपज्ञात मे भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी

---

१ नैमित्तिक पृष्ट सन् देवदत्ताख्य दैव पर्यालोचयति। - काशिका १/४/३६

लेखक ने विरचित किया किन्तु उपज्ञात ग्रन्थ विशेष न होकर उस शास्त्रीय विषय के लिये प्रयुक्त होता था जिसकी प्रथम बार उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो जैसे— पाणिनीय व्याकरण शास्त्र। हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को पाणिनीय व्याकरण तो कह सकते पाणिनीय ग्रन्थ नही कह सकते। उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्तिविशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पडता था जिसका उपदेश या प्रवचन उसमे किया गया हो। शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था जैसे— पाणिनीय व्याकरण।

प्रोक्त ४/३/१०१

वह साहित्य जिसके निर्माण मे वैदिक चरणो के सस्थापक ऋषियो ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदो की पृथक—पृथक शाखाये थीं ४/२/६६ उदाहरणार्थ— तैत्तिरीय चरण की शाखा ४/३/१०२ कठो की शाखा ४/३/१०७ कालापो की शाखा ४/३/१०८ एव अन्य भी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणो मे विकास हुआ— पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु ४/३/१०५। प्रोक्त ग्रन्थ का सम्बन्ध चरणो के अन्तर्गत उनके पढने एव पढाने वालो से था। यह सम्बन्ध मूल छन्द या शाखा ग्रन्थ से ही आरम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थो के विकास के साथ उनमे भी तद्विषयता का नियम लागू हुआ। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पडा। कालक्रम से आरण्यक और उपनिषद् भी रचे गये। साहित्य एव रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के ही अन्तरग भाग थे। इसलिये उनके नामकरण की ही पृथक समस्या का अनुभव नही हुआ। वे भी तद्विषयता नियम के ही अन्तर्गत आ गये।

तीसरे-प्रकार के प्रोक्त ग्रन्थ कल्प या श्रौत सूत्र थे जिनकी गणना वेदाडगो मे की गई। कात्यायन और पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि चरण ग्रन्थो मे जो तद्विषयता का नियम लागू था वह काश्यप और कौशिक द्वारा

प्रोक्त कल्पग्रन्थों में ही मान्य हुआ, जैसा कि पाणिनि ने स्वयं उसकी ऋषि पदवी से सूचित किया है।[1] ऋषि कश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिनः एवं कौशिकिनः कहलाते थे एवं ये चरण कल्पसूत्रों तक सीमित थे, अर्थात् इन ऋषियों ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्पसूत्र का ही प्रवचन किया था।[2] प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्रग्रन्थों का विशेष उल्लेख किया है, अर्थात् पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्र और शिलालिन् एवं कृशाश्व के नट सूत्र ४/३/११०–१११। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है कि तद्विषयता का जो नियम केवल छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थों में लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नट सूत्र जैसे लौकिक विषयों का निरुपण करने वाले ग्रन्थों में भी लागू हुआ।[3] पाराशर्य और शैलालक चरणों का मूल में सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमें ऋग्वेद की शाखा एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन होता था। ज्ञात होता है कि कुछ काल पश्चात् जब नये–नये विषयों की उद्भावना हुयी, तब पाराशर्य चरण के आचार्यों ने भिक्षुसूत्र अर्थात् वेदान्त सूत्र के अध्ययन की नींव डाली और शिलालिचरण के आचार्यों ने नटसूत्रों का निर्माण किया। ये दोनों ही विषय महत्त्वपूर्ण और लौकिक थे। यदि इनका मूल सम्बन्ध वैदिक चरणों से न होता तो पाणिन्यादि कृत शास्त्रों का जिस प्रकार नामकरण हुआ उसी प्रकार उनका भी नाम पड़ता है। इन नये विषयों को उन दोनों चरणों के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया कि उनसे सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थों का नाम लुप्त हो गया। उनकी कीर्ति केवल इन नये विषयों के कारण ही लोक में प्रथित हुई, अथवा यह भी सम्भव है कि इनके ग्रन्थों में ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य शिलाली पढ़ते–पढ़ाते रहे हों, किन्तु जिस विषय में आचार्य शिलालि ने स्वतंत्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नये विषय का प्रवचन किया वह नटसूत्र या नाट्य का

---

१. काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः– भाष्य ४/३/१०३।

२. काश्यप कौशिक ग्रहणं च कल्पे नियमार्थम् ४/२/६६ वा. ६

३. पाराशरिणो। भिक्षवः शैलालिनो नटाः। –महाभाष्य। इस पर सभी टीकाकार सहमत हैं कि पाराशरिणः और शैलालिनः ये दो चरणों के नाम थे अर्थात् गुरु–शिष्य पारम्पर्य के द्योतक थे जिनका संगठन ठीक वैदिक चरण संस्थाओं केआदर्श पर था।

विषय थी। यह भी अनुमानित किया जा सकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप मे जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढने के लिये न आये होगे बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाटयशास्त्र के अध्ययन के लिये ही उपस्थित हुये होगे।

पाराशर्य एव शिलालि के अतिरिक्त पाणिनि ने कर्मन्द और कृशाश्व नामक दो अन्य आचार्यो का भी उल्लेख किया है। कर्मन्द ने भिक्षुसूत्र और कृशाश्व ने नटसूत्रो की रचना की थी एव उनके पढने–पढाने वाले गुरु–शिष्यो की परम्परा चरण रुप मे सगठित हुई थी। कर्मन्द और कृशाश्व के विषय मे यह ज्ञात नहीं कि उनका सम्बन्ध किस वेद से था। आचार्य शिलालिन् के नटसूत्रो के विषय मे अनुमान होता है कि उन्हीं की मूल सूत्र–सामग्री का सन्निवेश प्रस्तुत भरत–नाट्य शास्त्र मे कर लिया गया और नाटयशास्त्र का वर्तमान स्वरुप आचार्य भरत द्वारा उसी प्रकार प्रतिसस्कृत हुआ। जिस प्रकार अग्निवेश का आयुर्वेद तन्त्र चरक द्वारा।

उपज्ञात ४/३/११५

उपज्ञात कोटि मे उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे २/४/२१। आपिशलि शाकटायन पाणिनि और काशकृत्स्न जैसे महान् आचार्यो की कृतियाँ इस श्रेणी मे आती थी। प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत ही उपज्ञात सज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे उपज्ञात नही क्योकि प्रवचनकर्ता ऋषियो ने कुछ नयी मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थो का आविर्भाव नही किया था। जो मूल सहिताये थी उन्ही मे फेर–फार करके उन्होने शिष्यो को उनका अध्यापन कराया था। इसी लिये एक ही वेद की कई शाखाये परस्पर बहुत मिलती है किन्तु पाणिनि का ग्रन्थ प्रोक्त भी था और उपज्ञात भी। पाणिनिना प्रोक्तम पाणिनिना उपज्ञातम् दोनो ही प्रकार से पाणिनि प्रोक्त नये व्याकरण शास्त्र के लिये पाणिनीय यह नाम सडगत हुआ। सडक्रान्ति काल मे कुछ ऐसी स्थिति

स्वाभाविक भी थी कि नूतन ग्रन्थो मे कुछ प्रोक्त शाखा ग्रन्थो और कुछ उपज्ञात ग्रन्थो के एक साथ लागू हो। उदाहरण के लिये पाणिनि के नये शास्त्र मे प्रोक्त ग्रन्थ वाली बात तो यह थी कि उसकी भी गुरु–शिष्य परम्परा उसी प्रकार प्रवर्तित हुई जिस प्रकार छन्दोग्रन्थ की थी। दूसरी तरफ उपज्ञात लक्षण यह था कि यहाँ पर पाणिनि का स्वतत्र कर्तृत्व माना गया। तद्विषयता का नियम पाणिनि के व्याकरण के लिये लागू नहीं हुआ अन्यथा पाणिनि के नाम से उसका नाम नही हो सकता था। नये–नये विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणो के बाहर अस्तित्व मे आ रहे थे जिनकी रचना मे उनके लेखको ने महान् प्रयत्न किया था। उनके कर्तव्य का भी लोगो को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह सम्भव नही था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओ के नाम से न हो। यास्क शाकटायन पाणिनि आदि इसी श्रेणी के उपज्ञाता आचार्य थे।[1]

इसी विषय मे यह एक बात और ध्यातव्य है कि पाणिनि प्रोक्त शास्त्र पाणिनीय हुआ फिर उस पाणिनीय शास्त्र के पढने–पढाने वाले (अध्येतृ–वेदितृ) भी पाणिनीय कहलाये। पाणिनि शब्द से प्रोक्त प्रत्यय– पाणिनि + ईय लगाने के बाद तदधीते तद्वेद अधिकारान्तर्गत यथा विहित अध येतृ–वेदितृ प्रत्यय लगाया गया– पाणिनि + ईय (प्रोक्त) + ईय (अध्येतृ वेदितृ)। इस स्थिति मे प्रोक्ताल्लुक् से दूसरे ईय प्रत्यय का लुक हो जाता है और पाणिनीय यही शब्द पाणिनि के ग्रन्थ और गुरु–शिष्य पारम्पर्य अर्थात् पढने–पढाने वालो का भी बोध कराता था। शिक्षण सस्था की दृष्टि से पाणिनीय सदृश ग्रन्थो मे और चरण साहित्य के ग्रन्थो मे बहुत अन्तर था। शाखा पर आश्रित चरणो का जो नियमित सगठन था वह नये शास्त्रो को प्राप्त न था। फिर पाणिनीय शास्त्र के पढने वाले सभी पाणिनीय विद्वान् किसी एक ही वैदिक चरण से सम्बन्धित हो यह भी आवश्यक न था। बल्कि भाष्यकार पतञ्जलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका सम्बन्ध सभी चरणो से समान था– सर्ववेदपारिषद हीद शास्त्रम।

१ पाणिनिना उपज्ञात पाणिनीय व्याकरणाम् उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायाम पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमत प्रणीतम पाणिनीयम – काशिका २/४/२१।

नव निर्मित सूत्र ग्रन्थो के अध्येता छात्रो का नाम ग्रन्थो की अध्याय सख्या से भी पडता था जैसे— अष्टका दशका त्रिका अर्थात् पाणिनीय वैयाघ्रपदीय और काशकृत्स्न शास्त्रो के पढने वाले छात्र — सूत्राच्चकोपधात् ४/२/६५ पाणिनीयमष्टक सूत्र तदधीते अष्टका पाणिनीया दशका वैयाघ्रपदीया त्रिका काशकृत्स्ना। आठ अध्याय होने के कारण पाणिनि का ग्रन्थ अष्टक कहलाया। इसी प्रकार उस अष्टक के पढने वाले छात्र अष्टका कहलाये। यहॉ पर भी पाणिनीयम् — पाणिनीया जैसी दो कोटिया थी— अष्टकम्—अष्टका। पहले ग्रन्थ का नाम एव फिर पढने वालो का नाम। ग्रन्थ की रचना मे विशेष प्रयत्न और परिष्कार इस युग मे किया गया जिसके कारण ग्रन्थो का स्वरुप इतना साफ—सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठभूमि मे सख्या शब्दो को ग्रन्थो के नामकरण मे इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। अध्याय पाद सूत्र के सॉचे मे ग्रन्थ को ढालने अथवा कुशल तक्षक की भाति अपनी सामग्री को सवार कर उस रुप मे ले आने मे ग्रन्थकर्ता जो महान् प्रयत्न करते थे उसका गौरव सख्या शब्दो को प्राप्त हुआ। तभी भाषा मे इस प्रकार के नामो की आकाक्षा हुई। यह कौन सा सूत्र ग्रन्थ है ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता था— यह अष्टक है। अर्थात् आठ अध्यायो मे इसके रचयिता आचार्य ने इसकी सामग्री का बन्धन बाधा है। इसी प्रकार जब प्रश्न किया जाता था कि आप लोग कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे विद्यार्थी कहते थे— हम अष्टक हैं अर्थात् आठ अध्यायो वाला जो सूत्र ग्रन्थ है हम उसका अध्ययन करने वाले है। ग्रन्थो के आन्तरिक शिल्प या वास्तु—विधान को ऐसा महत्व किसी अन्य युग मे प्राप्त नहीं हुआ। ब्राह्मण काल के अन्त मे ही अध्यायो के सम्बन्ध की सख्याओ के महत्त्व की यह व्यञ्जना शुरु हो गई थी। इसी कारण साठ अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिये षष्टिपथ और सौ अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिये ही शतपथ तीस अध्यायो वाले कौषीतकी के लिये त्रैश एव चालीस अध्यायो वाले ऐतरेय के लिये चात्वारिंश जैसे नाम पडे।

सप्तम-सोपान

सप्तम्-सोपान

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित भूगोल

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द सामग्री का सञ्चय किया उसमे देश पर्वत वन नदियॉ प्रदेश जनपद नगर ग्राम इनसे सम्बन्धित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री की सग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। मध्य एशिया से लेकर कलिग तक एव सौवीर (आधुनिक सिन्ध) से लेकर पूर्व मे असम प्रान्त के सूरमस (वर्तमान सूरमा) नदी प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रो के स्थान नाम अष्टाध्यायी मे पाये जाते है। इस प्रकार की सामग्री का सडकलन निश्चित उद्देश्य और व्यवस्था के आधार पर किया गया है। एक ओर जहॉ उससे पाणिनि के व्यापक ज्ञान और परिश्रम की सूचना मिलती है वहॉ दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि लिख रहे थे उसके प्रचार का क्षेत्र कितना विस्तृत था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि जीवन के व्यवहार मे देश के चारो कोनो का आपस मे गहरा सम्बन्ध था। सिन्धु नदी के समीप शलातुर ग्राम मे जन्म लेने वाले सूत्रकार को सूरमस कलिग अश्मक कच्छ सौवीर–पूर्व से पश्चिम तक बिखरे हुए इन प्रदेशो के विषय मे अच्छी जानकारी थी। कहॉ का शासन किस प्रकार का था कहॉ के नागरिक स्त्री–पुरूषो का देश के अनुसार क्या नाम पडता था इस प्रकार की सूचना आवागमन का घनिष्ठ सम्बन्ध हुए बिना सम्भव नही। पाणिनि सूत्रो का अध्ययन इस समय प्राय सम्पूर्ण देश मे किया जाता है। भौगोलिक नाम भी उसी के साथ आते है।

भौगोलिक सीमा विस्तार

देश एव जनपद

सूत्रो मे पठित निश्चित स्थान नामो की सहायता से पाणिनि कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। सूत्रकाल मे जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुत भारतीय इतिहास मे युग विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदो मे बँटा हुआ था।

जनपदो का जो विस्तार फैला हुआ था उसमे एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करने वाली नदी—पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाए थी एव दो बडे जनपदो के बीच मे छोटे—छोटे जनपद भी सीमाए बनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता है गॉव नहीं।[1]

सस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपद वाची नाम सदा वहुवचन मे आते है जैसे – पञ्चाला कुरुव मत्स्या अडगा वङ्गा मगधा आदि। जनपद या जातीय भूमियो के इतिहास मे तीन अवस्थाए देखी जाती है। सबसे पहले घुमन्तू कबीलो का युग था वे जन कहलाते थे। एक जनपद के सदस्य आपस मे रक्त सम्बन्ध मे बँधे थे। घुमन्तू जन समय पाकर स्थान – विशेष पर वस गया। उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। अष्टाध्यायी मे जिन देशो जनपदो के नाम आये है उनका विवरण इस प्रकार है –

मद्रकार

अष्टाध्यायी मे मद्र और भद्र दोनो पर्यायवाची शब्द है २/३/७३ ५/४/६७। मद्रकार का ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। सम्भव है

---

१ जनपदतदवध्योश्च। तदवधिरपि जपनद एव गृह्यते न ग्राम। – काशिका ४/१/१२४

घग्घर के तट पर वीकानेर के उत्तर–पूर्वी कोने मे स्थित भद्र नामक स्थान मद्रकारो की प्राचीन राजधानी रही है।

मद्रकार मे कार शब्द प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसका अर्थ सेना था। मद्रकार का अर्थ हुआ मद्रो के सैनिको द्वारा प्रतिस्थापित राज्य।

सौवीर ४/१/१४८

वर्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कॉठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरूव (सस्कृत रौरूक) वर्तमान रोडी है। यहॉ पुराने शहर के भग्नावशेष है। रोडी के उस पार सिन्धु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम शार्कर था जो पाणिनि के शर्कराया वा ४/२/८३ सूत्र मे आया है।

पाणिनि ने सौवीर जनपदो के नगरो के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है।[1] इसका उदाहरण काशिका मे दत्तामित्र की वसाई हुई दात्तामित्री (दत्ता मित्रेण निर्वृत्ता) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है। भारत के यूनानी राजा दिमित्रियस का सस्कृत नाम दत्तामित्र[2] कहा जाता है। उसने एक ओर सिन्धु तक का देश जीत लिया था और दूसरी ओर पुष्यमित्र शुग से भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत आदि पर्व का यवनाधिप दत्तमित्र यही है जिसने तीन वर्ष मे गन्धर्व (वर्तमान गन्धार) देश जीतकर फिर सौवीर देश जीत लिया था। पूना के सशोधित सस्करण के अनुसार महाभारत का यह श्लोक क्षेपक ठहरा है।

धूमादि गण मे सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलातसौवीरेषु ४/१/१२७) यह कोटरी से लकर समुद्र तक तक फैले हुए सिन्ध के मुहाने या नदीमुख का पुराना नाम था।

---

१ स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षू ४/२/७६

२ इसी का नाम प्राकृत मे दिमित्र या दिमित था। दत्ता मित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखो मे 'दातामित्रीयक नाम से हुआ है।
ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख – सूची स ११४४

गन्धार

पाणिनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गान्धारि ४/१/१६६ सूत्र मे दिया है। वहॉ के राजा और उनके पुत्र दोनो गान्धार कहलाते थे। बाद का नाम गन्धार गणपाठ मे मिलता है। यूनानी नाम गदराइ और गदराइति गान्धारि के निकट है। ज्ञात होता है कि गान्धारि मूल मे जन की सज्ञा थी जिससे जनपद का नाम गान्धारि हुआ। गन्धार महाजनपद काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती थी जहॉ स्वात और काबुल नदी के सगम पर वर्तमान चारसद्दा है। सुवास्तु और गौरी नदियो के बीच मे उडिडयान (प्राचीन उर्दि देश) था जो गन्धार का ही एक भाग था। यहॉ के बने हुए कम्बल पाण्डुकम्बल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार (४/२/११) रथ मढने के काम आते थे।

मगध ४/१/१७०

गगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहॉ राजतन्त्र शासन था।

सूरमस ४/१/१७०

यह नाम केवल अष्टाध्यायी मे आया है ज्ञात होता है कि असम प्रान्त मे प्रसिद्ध सूरमा नदी की दून और पर्वत उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था।

कलिड्ग ४/१/१७०

कलिडग पाणिनि के समय मे जनपद राज्य था किन्तु सोलह महाजनपदो की सूची मे उसकी गिनती नही है।

कोशल ४/१/१७१

यह राजाधीन जनपद बुद्धकालीन षोडश महाजनपदो में गिना जाता था। पाणिनि ने उससे सम्बन्धित सरयू और इक्ष्वाकु ६/४/१७४ का भी उल्लेख किया है।

अजाद ४/१/१७१

इस जनपद का नाम केवल अष्टाध्यायी मे मिलता है। नाम से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश बकरियो के लिए प्रसिद्ध रहा होगा। इटावा क्षेत्र आज तक जमनापारी बकरियो की नस्ल क लिए प्रसिद्ध है सम्भव है यही अजाद रहा हो।

कुरू ४/१/१७२

कुरू राष्ट्र कुरूक्षेत्र और कुरूजागल ये तीन क्षेत्र एक दूसरे से लगे हुए थे। थानेश्वर हस्तिनापुर – हिसार अथवा गगा–यमुना–सरस्वती के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागो मे बॅटा हुआ था। गगा–यमुना के बीच मे लगभग सम्पूर्ण मेरठ मण्डल असली कुरू राष्ट्र था इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने इसे हास्तिनुपर ६/२/१०१ कहा है। पाणिनि विशेष रूप से कुरू गार्हपतम् रूप की सिद्धि की है ६/२/४२। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरू जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ जीवन मे रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे। इस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय कुरूधम्म जातक के शील मे और गीता के कर्म प्रधान नीति धर्म मे प्राप्त होता है। दानो कुरू जनपद के साथ सम्बन्धित है। जातक मे इसे ही कुरूवत्त धम्म कहा गया है।

प्रत्यग्रथ ४/१/१७३

महाभारत मे यह नाम नही मिलता और पाणिनि व्याकरण मे पचाल नाम नही है। मध्यकालीन कोशो के अनुसार पचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी।[1]

साल्व ४/१/१७३ - पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे साल्व ४/२/१३५, साल्वेय ४/१/१६६ साल्वायव ४/१/१७३ इन तीनो को अलग–अलग

---

१ हेमचन्द्र अभिधानचिन्तामणि–प्रत्यग्रथास्तु अहिच्छत्रा साल्वास्तु कारकुक्षीया ४/२६। वैजयन्ती पृष्ठ २१४

जनपद कहा है जो राजाधीन थे। इनमे साल्व मूल राज्य था। साल्वेय साल्वो की कोई शाखा थी। साल्वेय का ही दूसरा नाम साल्वपुत्र था। साल्वायव इधर – उधर छिटके हुए उन छोटे – मोटे रजवाडो का समूह था जिनकी स्थापना साल्वो मे से ही कुछ लोगो ने छिटपुट रूप से कर ली थी। ये राज्य पञ्जाब के मध्य भाग और उत्तर पूर्व मे बिखरे हुए थे और भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ सटे हुए न थे।

साल्व जनपद कहाँ था ? इसकी ठीक पहचान प्राचीन भारतीय भूगोल का अनिश्चित परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है। गोपथ ब्रह्मण मे (१/२/६) साल्व और मत्स्य इन दो जनपदो का जुडवाँ उल्लेख है जिससे इन्हे पडोसी मानना होगा। महाभारत मे भी साल्व माद्रेय और जाडगल इनका एक साथ नाम लिया गया है[1] जिससे इतना सकेत अवश्यक मिलता है कि साल्वो की स्थिति उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पजाब मे कहीं थी। उपरोक्त नामो मे से मत्स्य का स्थान निश्चित है इसकी राजधानी विराट थी जो जयपुर मे वर्तमान वैराट स्थान है। जाड्गल से तात्पर्य कुरूजाड्गल से था जिसके अन्तर्गत दक्षिण पूर्वी पजाब मे हॉसी – हिसार – सिरसा का बडा क्षेत्र था। मत्स्य और जागल इन दो जनपदो की भूमि को यदि छोड दे तो साल्व की पहचान के लिए अलवर से उत्तरी बीकानेर तक का फैला हुआ प्रदेश बचा रहता है। वस्तुत यही प्रदेश प्राचीन साल्व ज्ञात होता है। इसी का वह भाग जो साल्वेय या साल्वपुत्र कहलाता था अलवर के आस–पास होना चाहिए। सम्भवत अलवर मे उस नाम का कुछ अश सुरक्षित रह गया है।

साल्वायव

काशिका मे उद्धृत एक प्राचीन श्लोक के अनुसार साल्वायव राजतन्त्र के अन्तर्गत छ रजवाडे थे – (क) उदुम्बर (ख) तिलखल (ग) नद्रकार (घ) युगन्धर (ड) भूलिड्ग (च) शरदण्ड। इन नामो की पहचान क्रमश निम्नलिखित है।

१ महाभारत भीष्मपर्व १०/३

(क) उदुम्बर

उदुम्बरो का उल्लेख पाणिनि के राजन्यादि गण ४/३/५३ मे अया है। उदुम्वरो के पुराने सिक्के कॉगडा (प्राचीन त्रिगर्त) देश मे व्यास और रावी नदियो के बीच मे पाये गये है। कॉगडा के मुहाने पर पठान कोट नगर मे भी उदुम्बर मुद्राए बहुतायत से मिली है।[1] इस पुरातात्त्विक प्रमाण से उदुम्बरो का प्रदेश निश्चित हो जाता है। व्यास के उत्तर और रावी के दक्षिण की सॅकरी घटी मे त्रिगर्त के प्रवेश द्वार (वर्तमान गुरदासपुर) मे उदुम्बरो का राज्य था। पतञ्जलि ने उदुम्बरावती नदी का उल्लेख किया है (४/२/७१)। यह इसी प्रदेश की कोई छोटी नदी होनी चाहिए जिसके तट पर उदुम्बरो की राजधानी रही होगी।

(ख) तिलखल

उदुम्बर भू—भाग के मानचित्र पर दृष्टि डालने से व्यास नदी के दक्षिण के प्रदेश (जिला होशियारपुर) मे जहॉ आज भी तिलो की खेती का प्रधान क्षेत्र है तिलखल राज्य का स्थान ज्ञात होता है। व्याकरण का तिलखल और महाभारत के भीष्मपर्व १०/५१ का तिलभार दोनो एक ही प्रतीत होते है। तिलखल का अर्थ है तिलो से भरे हुए खलिहानो का देश और तिलभार का अर्थ भी जहॉ तिलो के बोझ खलिहान से घर लाये जॉय।

मद्रकार - पूर्व मे व्याख्यायित है।

युगन्धर - योगन्धरिरेव नो राजा इति साल्वीरवादिषु ।

विवृतचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।।

अर्थात् यमुना के किनारे बैठी साल्वी स्त्रिया चर्खा चलाती हुई कहती थी कि हमारा राजा यौगन्धरि है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि युगन्धर यमुना का तटवर्ती था। यह राज्य सम्भवत अम्बाला जिले मे

---

१ एलन प्राचीन भारत की मुद्राए प्रस्तावना पृ० ८७।

२ प्रशिलुस्की पञ्जाब की एक प्राचीन जाति— साल्व

सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था। देहरादून जिले मे कालसी के पास जगत् ग्राम मे प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वह क्षेत्र युग शैल देश (युग नाम का पहाडी प्रदेश) कहलाता था।

भूलिग

तोल्मी ने लिखा है कि अरावली के उत्तर पश्चिम मे बोलिगाई जाति रहती थी। इनकी पहचान भूलिङगो से हो सकती है।

शरदण्ड

वाल्मीकि रामायण[1] मे लिखा है कि अयोध्या से केकय के मार्ग पर जाते हुए कहीं शरदण्डा नदी पार करनी पडती थी उसी शरदण्डा के तट पर सन्निविष्ट होने के कारण साल्वो के एक अवयव का नाम शरदण्ड पडा होगा। शरदण्डा नदी की निश्चित पहचान नहीं हुई। सम्भव है यह शरावती का ही दूसरा नाम हो क्योकि दोनो नामो मे शर पूर्वपद आता है। शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशो के बीच की सीमा मानी गई थी। इस आधार पर अनुमान होता है कि शरावती कुरुक्षेत्र की नदी थी जिसे दृषद्वती भी कहा गया है आजकल इसका नाम चिताड्ग है।

पाणिनि के अनुसार साल्व जनपद की तीन विशेषताए थी – (क) यहॉ के पैदल सैनिक प्रसिद्ध थे जो साल्व पदाति कहलाते थे (अपदातौ साल्वात् ४/२/१३५)। (ख) साल्व जनपद के बैल ऐसे नामी थे कि उनके लिए भाषा मे एक विशेष शब्द (साल्वक गौ) ही चल गया था। (ग) इस जनपद मे लप्सी खाने का रिवाज था जो साल्विका यवागू कहलाती थी। जयपुर – बीकानेर के लोगो मे आज भी लप्सी प्रिय भोजन है जो राबडी कहलाती है।

अश्मक ४/१/१७३

- अश्मक जनपद की राजधानी अन्य ग्रन्थो के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत –श्रखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।

---

१ रामायण अयोध्याकाण्ड ६८/१६।

कलकूट ४/१/१७३

महाभारत के सभापर्व के अनुसार कलकूट (पाणिनीय कलकूट) कुलिन्द प्रदेश मे था। जब अर्जुन भीम और कृष्ण जरासन्ध को जीतने के लिए गुप्त रूप से निकले तो यद्यपि उन्हे कुरु जनपद से पूरब जाना था तथापि पहले वे पश्चिम कुरू जाङगल (वर्तमान रोहतक हिसार) की ओर गये। वहॉ से उत्तर की ओर कुरूक्षेत्र मे पद्मसर[1] की तरफ मुडे और आगे कालकूट जनपद पार करके तराई के साथ सटे हुए मार्ग से सरयू और गण्डक नदिया पार करते हुए मिथिला मे जा पहुँचे फिर वहा से नीचे गगा पार कर एकदम गोरथगिरि और राजगृह गये। इस मार्ग मे कालकूट ठीक टोस (तमसा) और यमुना के प्रदेश (देहरादून कालसी) मे पडता है। यह यमुना की ऊपरी धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद मे हिमालय पर उत्पन्न यामुन अजन का उल्लेख है[2] अजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट या काला पहाड होना स्वाभाविक था।

कम्बोज ४/१/१७५

पाणिनि के समय मे यह एकराज जनपद था। यहॉ का राजा और क्षत्रिय कुमार दोनो कम्बोज कहलाते थे (अपत्यवाची और राजावाची प्रत्ययो का कम्बोजाल्लुक सूत्र से लोप होता है)। कच्छादि ४/२/१३३ सिन्ध्वादि ४/३/९३ गणो मे सिन्धु वर्णु गन्धार मधुमत् कम्बोज कश्मीर साल्व और कुलुन इन आठ जनपदो के नाम सामान्य है जो पाणिनिकृत प्रतीत होते है कम्बोज की ठीक पहचान भारत के पश्चिमोत्तर भूगोल के लिए महत्त्वपूर्ण है। गन्धार कपिश वाल्हीक और कम्बोज – इन चार महाजनपदो का एक चौगडडा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नक्शे मे इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हिन्दुकुश के उत्तर–पूर्व

---

१ पद्मसर कुरुक्षेत्र से ११२ मील और कौलग्राम से दो मील पश्चिम मे प्रसिद्ध तीर्थ है। भारतीय तीर्थस्थान एव उनकी स्थिति – पृ० १७

२ अथर्व ४/९/१०

मे कम्बोज उत्तर–पश्चिम मे वाल्हीक दक्षिण–पूर्व मे गन्धार और दक्षिण–पश्चिम मे कपिश था। आधुनिक पामीर और बदख्शा का सम्मिलित प्राचीन नाम कम्बोज जनपद था और उसी से सटा हुआ दरवाज का क्षेत्र था जिसकी पहचान डा० मोती चन्द्र ने द्वारका से की है। कम्बोज के दक्षिण मे पूर्व पश्चिम फैली हुई हिन्दुकुश की ऊँची पर्वत श्रृखला कम्बोज को भारतवर्ष से अलग करती थी।

यास्क ने लिखा है कि गत्यर्थक शवतिधातु कम्बोज देश मे ही बोली जाती है (शवतिर्गतिकर्म कम्बोजष्वेव भाष्यते)। क्म्बोज या वक्षु के उद्गम प्रदेश की गल्चा नामक बोलियो मे यह विशेषता अभी तक पायी जाती है[१]।

अवन्ति ४/१/१७६

यह मध्यभारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

कुन्ति ४/१/१७६

भाष्य के अनुसार ४/१/१७१ के इकारान्त एकराज जनपदो मे कुन्ति और अवन्ति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुन्ति अवन्ति जनपद का पडोसी था। उस राज्य मे अश्व नदी बहती थी जो सम्भवत चम्बल की शाखा कुमारी नदी थी।[२] सहदेव नेअपनी दक्षिण की दिग्विजय मे कुन्ति देश को जीता था। यमुना और चम्बल के कॉठे मे प्राचीन कुन्ति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर) था जो अब भी कोतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुन्ति–सुराष्ट्र चित्ति–सुराष्ट्र और अवन्ति–अश्मक जनपदो के नाम लोक प्रसिद्ध भौगोलिक जोडो के रूप मे लिखे है जो मध्य भारत और पश्चिमी भारत मे थे। ये जनपद विस्तार की दृष्टि से काफी बडे थे। अभी तक चम्बल से टोस तक का प्रदेश बुन्देलखण्ड की भौगोलिक इकाई के रूप मे प्रसिद्ध है। पाणिनि के समय तक भाषा मे कुन्ति–सुराष्ट्र और चित्ति–सुराष्ट्र ये दो प्राचीन भौगोलिक सूत्र लोकभाषा के अग बन चुके थे।

---

१ भारतीय भाषाओ का पर्यवेक्षण भाग १० पृ० ४६८ ४७३ ४७४ ४७६ ५००–ग्रियर्सन। जयचन्द्र भारत भूमि और उनके निवासी पृ २६७–३०३

२ महाभारत वन पर्व ३०८/७ वृहत्सहिता १०/१५

भौरिकि ४/२/५४

पाणिनि ने इस सूत्र मे भौरिकि भक्त का नामोल्लेख किया है। वैजयन्ती कोश (पृ० ३७) के अनुसार बगाल का समतट (दक्षिणी बगाल) प्रदेश भौरिक कहलाता था। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भलेख मे भी समतट नाम आया है। यदि भौरिकि की समतट के साथ पहचान ठीक हो तो मानना पडेगा कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही गगा सागर के पास का यह इलाका भौगोलिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आ चुका था।

कापिशी ४/२/९९

उत्तर पश्चिम मे कापिशी का उल्लेख है यह नगरी प्राचीन काल मे अति प्रसिद्ध राजधानी थी। काबुल से लगभग ५० मील उत्तर इसके प्राचीन अवशेष मिले है। यहॉ से प्राप्त एक शिलालेख मे इसे कपिशा कहा गया है। इसका आधुनिक नाम बेग्राम है।

रकु ४/२/१००

पाणिनि के अनुसार रकु देश का मनुष्य राकवक और वहॉ की अन्य वस्तुए राकव या राकवायण कही जाती थी। काशिका ने रकु जनपद के राकव कम्बल और राकवायण बैल का उल्लेख किया है। इस जनपद की पहचान अनिश्चित है। सम्भवत यह अलकनन्दा और पिण्डर के पूर्व का प्रदेश था जहॉ मल्लाजुहार और मल्लादानपुर की भाषा रक कहलाती है[१]

काशि ४/२/११६

पाणिनि ने स्थान नामो मे काशि का उल्लेख किया है। जनपद का नाम काशि था वाराणसी उसकी राजधानी थी। अष्टाध्यायी से यह नही ज्ञात होता कि कोशल की भॉति काशि भी स्वतन्त्र जनपद था। मगध और कोशल मे से किसी एक के साथ काशि जनपद बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय मे मिला हुआ था। पाणिनि के समय काशि का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नही ज्ञात होता।

---

१ भारतीय भाषा पर्यवेक्षण –ग्रियर्सन खण्ड ३ भाग १ पृ० ४७६

उशीनर ४।२।११८

पाणिनि के अनुसार उशीनर वाहीक का जनपद था।[1] काशिका मे उशीनर के सुदर्शन और आह्वजाल नामक शहरो के नाम दिये है। पाणिनि ने उशीनर जनपद मे उन स्थानो का उल्लेख किया है जिनके अन्त मे कन्था शब्द आता था जैसे — सौशमिकथ और आह्वरकथ। कन्था शक भाषा का शब्द था जिसका अर्थ था नगर। महाभारत मे शिबि को उशीनर का राजा कहा गया है।[2] शिबि की राजधानी शिविपुर थी जिसकी पहचान वर्तमान शोरकोट (झग जिले की एक तहसील) से की जाती है। वहॉ विस्तृत प्राचीन अवशेष है। ऐसा ज्ञात होता है कि रावी और चिनाब के बीच का निचला भूभाग जो मद्र के दक्षिण मे था उशीनर प्रदेश कहलाता था। वह भी दो भागो मे बटा था आजकल के भग मघियाना वाला उत्तरी हिस्सा उशीनर जनपद था और दक्षिण मे शोरकोट के चारो ओर के क्षेत्र का नाम शिबि जनपद होना चाहिए। राजनैतिक दृष्टि से कभी उशीनरो का वर्चस्व होता कभी शिबि का। दोनो का निकट का सम्बन्ध रहता था। आइन–ए–अकबरी मे इस सारे क्षेत्र को शोर कहा गया है जो कि शिबिपुर के अधिक निकट है।

पाणिनि ने शिबि का नामोल्लेख नहीं किया। ज्ञात होता है कि पीछे उशीनर के स्थान पर शिबि का नाम प्रसिद्ध हो गया। भाष्य मे शिबि गान्धारि और वसाति के समान ही एक जनपद की सज्ञा है।

मद्र ४/२/१३१

मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान आयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाडियो से निकलकर स्यालकोट के

---

१ विभाषोशीनरेषु–उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामा — काशिका ४/२/११८

२ राजानमौशीनर शिबिम महाभारत वन १९४/२ द्रोण २८/१

पास से होती हुई वर्षा ऋतु मे चिनाब से मिलती है।[1] पतजलि ने वाहीक ग्रामो मे शाकल का नाम लिया है। पाणिनि ने वाहीक को स्थान नाम माना है पर उसकी व्युत्पत्ति नही दी। कात्यायन ने वहिर शब्द से ईकक प्रत्यय जोडकर वाहीक की सिद्धि की है। महाभारत द्रोण पर्व मे वहि और हीक नामक पिशाचो (यक्षो) को यहॉ का स्थानीय देवता मानकर इस नाम की जो व्युत्पत्ति सुझाई गई है लोक मे वह कभी प्रसिद्ध रही होगी। पाणिनि के समय मे मद्र जनपद के दो भाग थे—पूर्वमद्र और अपरमद्र (दिशोऽमद्राणाम ७/३/१३ मद्रेभ्योऽञ् ४/२/१०८)। मानचित्र देखने से पूर्वमद्र रावी से चिनाब तक और पश्चिमी मद्र चिनाब से झेलम तक का प्रदेश होना चाहिये। शाकल या स्यालकोट पूर्वीमद्र मे ही पडता है।

वृजि ४/२/१३१

विहार प्रान्त मे गगा के उत्तर का प्रदेश वृजि कहलाता है जहॉ विदेह लिच्छवियो का राज्य था।

कच्छ ४/२/१३३

सिन्ध के ठीक दक्षिण मे कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यो को काच्छक कहा है और वहॉ के लोगो की कुछ विशेषताओ का भी सूत्र मे सकेत किया है। (मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४/२/१३४)। काशिका मे इसके तीन उदाहरण है — (१) काच्छक हसितम् (कच्छवालो के हॅसने का ढग) (२) काच्छक जल्पितम् (कच्छ वालो के बोलने का ढग) (३) काच्छिका चूडा (कच्छ वालो के सिर की शिखा का ढग)।

कच्छी बोली मे वाक्य के अन्तिम भाग को कुछ तरल या प्रवाहित करके बोलते है। कच्छ देश मे लोहाने क्षत्रिय प्रसिद्ध है। पाणिनि ने नडादिगण मे नाडायन चारायण की भॉति लोह से लौहायन अपत्य अर्थ मे सिद्ध किया है। ज्ञात होता है कि ये लौहायन लोहाने ही है। इसी गण पाठ

---

१ कनिघम प्राचीन भारतीय भूगोल पृ २१२।

मे सौवीर के मिमत गोत्र और उनके अपत्य मैमतायन का भी उल्लेख है। लोहाने लोग अभी तक अपने सिर के बालो का अगला आधा भाग मुण्डा हुआ रखते है यही काच्छिका चूडा की विशेषता हो सकती है। काशिका ने इसी सूत्र के प्रत्युदाहरण मे कच्छी बैलो (काच्छ गौ) का भी उल्लेख किया है। इस नस्ल के पतले सीगो वाले नाटे चञ्चल बैल अभी तक प्रासिद्ध है।

भारद्वाज ४/२/१४५

काशिका ने निश्चित रूप से इस सूत्र मे भारद्वाज को देशवाची माना है गोत्रवाची नहीं। पाणिनि ने भारद्वाजो की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण आत्रेय भारद्वाजे ४/१/११०) मार्कण्डेय पुराण की जनपद सूची मे भी आत्रेय और भारद्वाज साथ–साथ पढे गये है। पार्जीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढवाल प्रदेश से की है।

सिन्धु ४/३/३२

सिन्धु नद के पूर्व मे सिन्ध सागर दोआब का पुराना नाम सिन्धु था। सिन्धु मे उत्पन्न मनुष्य सिन्धुक कहलाता था (सिन्ध्वपकाराभ्या कन् ४/३/३२)। सिन्धु मे जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धु जनपद से था उसकी सज्ञा सैन्धव होती थी। पाणिनि ने कुछ सिन्ध्वन्त नामो का सकेत किया है ७/३/१६ जिसके उदाहरण मे काशिका मे सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु इन दो भागो का उल्लेख है। ये दानो नाम भोजन की स्थानीय आदतो को लेकर लोक मे प्रसिद्ध हुए थे। जहॉ के लोग सत्तू खाने के शौकीन थे वह भाग सक्तु सिन्धु और जहॉ के लाग पान के शौकीन थे वह पान सिन्धु कहलाने लगा। सम्भवत ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिन्धु जनपद के लिए प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिन्धु दोआब मे डेरा–इस्माइल–खॉ की तरफ आज भी सत्तू वहॉ का जातीय भोजन है। स्त्रिया सत्तू की सौगात भेजती है और यात्रा मे यात्री सत्तू साथ बॉधकर

चलते है। दूसरी ओर महाभारत मे सिन्धुराज जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है[1] जयद्रथ सौवीर और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर–भोजन दक्षिण सिन्धु की विशेषता समझा जाता था।

सिन्ध्वपकाराभ्या कन ४/३/३२ सूत्र के अनुसार देशवाची अपकर शब्द से वहाँ का निवासी अपकरक कहलाता था। अपकर बहुत सम्भव है कि यह स्थान भक्खर हो। सिन्धु जनद मे यह दक्षिणी रास्ते का नाका था जहाँ सिन्धु नदी पार करके प्राचीन गोमती (आधुनिक गोमल) के किनारे से गजनी को रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भक्खर महत्त्वपूर्ण स्थल था।

भारतीय साहित्य मे सिन्धु – सौवीर यह दो जनपद नामो का जोडा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनो की सीमाए एक दूसरे से सटी हुई थी जैसा कि सौवीर की पहचान से स्पष्ट है।

ब्राह्मणक ५/२/७१

अष्टाध्यायी मे ब्राह्मणक एक देश का नाम है। पतञ्जलि के अनुसार यह एक जनपद था। इसकी पहचान यूनानी लेखको के ब्राखमनोई वर्तमान ब्राह्मणावाद से ही की जा सकती है जो सिन्ध प्रान्त के मध्य मे मीरपुर खास से २५ मील उत्तर है। यहाँ प्राचीन काल के विस्तृत घ्वसावशेष है। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे पश्चिमी जनपदो की सूची मे इसे ब्राह्मणवह कहा है। यूनानी लेखक प्लूटार्क के अनुसार यहाँ के लोग दार्शनिक विद्वान थे और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मर मिटने को तैयार रहते थे। उन्होने आयुध जीवी सघो की तरह डटकर सिकन्दर से युद्ध किया और अपने पडोसी राज्यो को भी स्वतन्त्रता की रक्षा मे युद्ध के लिए उभारा।

प्रकण्व ६/१/१५३

पाणिनीय सूत्र ६/१/१५३ प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है। इसी

---

१ महाभारत द्रोण पर्व ७६/१८।

का प्रत्युदाहरण प्रकण्व है जो एक देश का नाम था (प्रकण्वो देश काशिका)। यूनानी इतिहास लेखक हेरोडोटस ने परिकनिओई नामक जाति का उल्लेख किया है जिसकी पहचान स्टेनकोनो ने फरगना के लोगो से की है। ज्ञात होता है कि प्रकण्व ही परिकनिओई या फरगना का प्राचीन नाम था। इस तरह प्रकण्व देश भी मध्य एशिया के भूगोल का अग था।

पारस्कर ६/१/१५७

ऋकतन्त्र मे पारस्कर पर्वत का नाम है (४/५/१०) किन्तु पतजलि ने पारस्कर को एक देश का नाम कहा है। यह सिन्ध का पूर्वी जनपद थर – पारकर जान पडता है। थर रेगिस्तान वाची थल का सिन्धी रूप है। कच्छ के इरिण या रन प्रदेश के उत्तर का समस्त भू–भाग पारकर देश था।

हास्तिनपुर ६/२/१०१

दिल्ली–मेरठ का प्रदेश कुरू जनपद कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अष्टाध्यायी मे इसी का नाम हास्तिनपुर है।

केकय ७/३/२

केकय जनपद वर्तमान झेलम शहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था जिसमे इस समय खिउडा की नमक की पहाडी है। केकय जनपद राजधानी था। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) कैकेय कहलाते थे। भर्गादि गण मे भी केकय का पाठ है।

अम्बष्ठ ८/३/६७

पाणिनि ने इस सूत्र मे अम्बष्ठ और आम्बष्ठ इन दो नामो की अलग – अलग सिद्धि की है। पतञ्जलि के अनुसार अम्बष्ठ एक नाम था। यह जनपद राजाधानी था और इसके निवासी आम्बष्ठय कहलाते थे।

महाभारत के अनुसर अम्बष्ठ कौरवो की ओर से लडे थे उनकी गिनती औदीच्यो मे की गई है। अम्बष्ठो की पहचान यूनानी लेखको के सम्वस्तइ या अवस्तनोई से की जाती है। ये अत्यन्त वीर थे और चिनाब नदी के निचले भाग मे बसे हुए थे।

त्रिगर्त

पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुध जीवी सघो का उल्लेख किया है। रावी व्यास और सतलज इन तीन नदी दूनो के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसी का पुराना नाम जालन्धरायण भी था जिसका राजन्यादिगण ४/२/५३ मे उल्लेख हुआ है। अब भी त्रिगर्त कॉगडा का प्रदेश जालन्धर कहलाता है। रावी और व्यास के सकरे नाके मे होकर त्रिगर्त का रास्ता था और आज भी है। गुरूदासपुर – पठानकोट यहीं है जहॉ से औदुम्बर गणराज्य के सिक्के मिले है। इस प्रदेश का वर्तमान नाम कॉगडा हो गया है।

इस प्रकार उत्तर मे कम्बोज दक्षिण मे अश्मक पश्चिम मे सौवीर और पूर्व मे सूरमस इन चारो कोनो के बीच का भू–प्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अर्न्तगत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल से अधिक घनिष्ठ था।

नदी

भिद्य एव उद्ध्य ३/१/११५ – साहित्य मे अन्यत्र इनका उल्लेख नही मिलता केवल कालिदास ने रघुवश (११/८) मे राम लक्ष्मण के जोडे की उपमा देने के लिए इनका उल्लेख किया है। काशिका के उद्ध्येरावति उदाहरण से स्पष्ट है कि उद्ध्य इरावती (वर्तमान रावी) की सहायक नदी थी। जो नदी जिसमे मिलती है उन दोनो के आधार पर भाषा मे नदी नामो क जोडे बनते है। उद्ध्य का वर्तमान नाम उझ है। यह जम्मू क्षेत्र मे होती हुई कुछ दूर पजाब मे बहकर गुरूदासपुर जिले मे रावी के दाहिने किनारे

की दूसरी नदी गुरदासपुर जिले मे ही रावी मे मिली है यही प्राचीन भिद्य ज्ञात होती है। इस प्रकार से भिद्येरावति उद्ध्येरावति शब्दो का भाषा मे प्रयोग हुआ होगा।

विपाश् ४/२/७४ - पजाब की नदियो मे विपाश् (व्यास) का नाम सूत्र मे उल्लिखित है। इसके किनारे के कुओ से पाणिनि का परिचय था। व्यास के दाहिने किनारे या बॉगर के कुए पक्के होते है और बाए किनारे या खादर के कुए हर साल पानी भर जाने के बाद फसल के समय कच्चे खोद लिए जाते है। उनका यह भेद कुओ के नामो मे प्रकट होता था। जो टिकाऊ नाम थे उनके आदि स्वर का उच्चारण उदात्त होता था पर व्यास के दक्षिणी किनारे के कच्चे कुओ के नामो मे यह उदात्त उच्चारण अन्तिम स्वर पर पडता था।

सुवास्तु ४/२/७७

सुवास्तु वैदिक काल की नदी थी यह आजकल की स्वात है। इसकी पश्चिमी शाखा गौरी नदी (पजकोरा) है। इन दोनो के बीच मे उडियान था जो गन्धार देश का एक भाग माना जाता था। यहीं स्वात की घाटी मे प्राचीन काल से आज तक एक विशेष प्रकार के कम्बल बुने जाते आये है। पाणिनि ने पाण्डुकम्बल ४/२/११ नाम से उनका उल्लेख किया है। सुवास्तु और गौरी की दूनो मे एक वीर जाति के लोग बसते थे जिन्हे पाणिनि ने आश्वकायन (नदादिगण ४/२/६६) कहा है। इनकी राजधानी का नाम व्याकरण साहित्य की मशकावती है। स्वात का ही निचला भाग मशकावती नदी कहलाता था जिसके तट पर पर ही मशकावती नगरी थी। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश जहॉ वह कुभा मे मिलती है किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी पुष्कलावती थी। मशकावती की भॉति पुष्कलावती भी व्याकरण मे नदी का नाम प्रसिद्ध था। पुष्कलावती का नाम प्राचीन नदी सूची मे आया है। स्वात नदी के ही निचले टुकडे का नाम पुष्कलावती होना चाहिए। यूनानी लेखको के अनुसार इस प्रदेश मे

अस्तेनेनोई नामक लडाकू कबीला रहता था। पाणिनि के ६/४/१७४ सूत्र मे उसी का नाम हस्तिनायन मिलता है। वस्तुत सुवास्तु–गौरी–कुभा–सिन्धु के बीच के प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर का पिछवाडा था। अपने निवास स्थान की तिल–तिल भूमि से उनका परिचित होना सवाभाविक था।

सिन्धु ६/३/६३

प्राचीन सिन्धु नद आधुनिक सिन्ध है। सिन्धु के नाम से उसके पूर्वी किनारे की तरफ पजाब मे फैला हुआ प्राचीन सिन्धु जनपद था जिसका पाणिनि ने ६/३/६३ सूत्र मे उल्लेख किया है। इस समय जो सिन्धु प्रान्त है उसका पुराना नाम सौवीर था। उसका भी उल्लेख पाणिनि ने सौवीर के गोत्रो का परिचय देते हुए किया है। सिन्धु नदी कैलाश के पश्चिमी तटान्त से निकलकर कश्मीर को दो भागो मे बॉटती हुई गिलगिट–चिलास (प्राचीन दरद् देश) मे घुसकर दक्षिणवाहिनी होती हुई दरद् के चरणो से पहली बार मैदान मे उतरती है। इस भौगालिक सच्चाई को जानकर प्राचीन भारतवासी सिन्धु के लिए दारदी सिन्धु, कहते आये है। दरद् से नीचे उतरकर सिन्धु पूर्वी और पश्चिमी गन्धार की सीमा बनाती थी।

सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी कुर्रम के किनारे निचले हिस्से मे बन्नू की दून है। इसका वैदिक नाम क्रुमु था। इसका ऊपरी पहाडी प्रदेश आज भी कुर्रम कहलाता है और निचला मैदानी भाग बन्नू। पाणिनि ने इसी को वर्णुनद के नाम से प्रसिद्ध वर्णुदेश कहा है। इसी की सीध मे सिन्धु के पूरब की ओर केकय जनपद ७/३/२ था जिसमे सैन्धव (सेधा नमक) का पहाड था जो आधुनिक जेहलम गुजरात और शाहपुर जिलो का केन्द्रीय भाग है। अपने अन्तिम भाग मे सिन्धु नदी सौवीर देश मे प्रवेश करती है और फिर समुद्र मे मिल जाती है। यह प्रदेश सिन्धुकूल और सिन्धुवक्त्र कहलाता था।

रथस्या

पारस्कर प्रभृति गण मे रथस्या नाम की नदी का उल्लेख है। भाष्य मे इसका रूप रथस्या है। ऋकतन्त्र प्रातिशाख्य मे भी रथस्या आया है। महाभारत के आदि पर्व मे सरस्वती और गण्डकी के बीच की सात पावन नदियो मे इसका नाम रथस्या है। रथस्या पचाल देश की रामगगा थी जो ऊपरी भाग मे अब भी रुहुत कहलाती है। यूनानी लेखको के अनुसार गगा से ११६ मील पूरब मे रहदफ था जो रथस्या का ही बिगडा हुआ रूप है। मध्य कालीन कोशो मे पचाल का पुराना नाम प्रत्यग्रथ है। यही रामगगा नदी बहती है। रथस्या और प्रत्यग्रथ का अर्थ एक सा है—जहॉ पहुॅचकर रथ ठहर जायॅ या पीछे मुड जायॅ। पचाल जनपद के लिये यह सज्ञा बढते हुए आर्यो के अभियान के समय दी हुई जान पडती है जब उनका रथ पचाल भूमि मे आकर रूका।

अजिरवती ६/३/११६

गगा के कॉठे की नदियो मे अजिरवती का नाम अष्टाध्यायी मे आया है। यही अचिरवती वर्तमान राप्ती नदी थी जिसके किनारे प्राचीन श्रावस्ती स्थित थी।

शरावती ६/३/१२०

कुरूक्षेत्र की घग्घर नदी के साथ इसकी पहचान की जाती है। यह प्राच्य और उदीच्य देशो के बीच की सीमा थी।

सरयू ६/४/१७४

इसका नाम अष्टाध्यायी मे आता है जिससे सारव (सरखा भव) विशेषण बनता है। सरयू नाम की प्रसिद्ध नदी तो कोशल जनपद मे है किन्तु पश्चिमी अफगानिस्तान की हरिरूद नदी भी जिसके किनारे हिरात बसा है प्राचीन ईरानी भाषा मे हरयू कहलाती थी जो सस्कृत सरयू का

रूप है। ईरानी सम्राट दारा के लेखो मे यहॉ के निवासी को हरइव कहा है जो सस्कृत सारव का रूप है।

देविका ७/३/१

इस नदी का उल्लेख ७/३/१ सूत्र मे हुआ है। भाष्य मे देविका के किनारे उगने वाले चावल दाविकाकूला शालय कहे गये है। देविका मद्रदेश मे बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी थी। वामन पुराण के अध्याय ८४ के अनुसर यह रावी की सहायक नदी थी इससे इसकी निश्चित पहचान देग नदी के साथ होती है जो जम्मू की पहाडियो से निकलकर स्यालकोट शेखूपुरा जिलो मे बहती हुई रावी मे मिल जाती है। देग नदी हर बरसाती बहिया मे अपने किनारे पर रौसली (रजस्वला या बरसाती) मिट्टी की एक उपजाऊ तह छोडती है। आज भी उसके किनारे पर कई प्रकार के बढिया सुगन्धित चावल होते है। आज भी पजाब मे स्यालकोटी चावल प्रसिद्ध है जो प्राचीन मद्र के दाविकाकूल शालि ही है।

चर्मण्वती ८/२/१२

विन्ध्याचल की नदियो मे चर्मण्वती (चम्बल) नदी का नाम इस सूत्र मे है।

रूमण्वत् ८/२/१२

इस सूत्र मे रूमण्वत् शब्द का उल्लेख है। काशिका के अनुसार लवण के स्थान मे रूमण आदेश हाने से यह शब्द बना है। (लवण शब्दस्य रूमण्भावो निपात्यते) इसका सम्बन्ध रूमा नदी (लूणी नदी) से ज्ञात होता है जो सॉभर झील से निकलती है।

धन्व

पाणिनीय धन्व शब्द का अर्थ मरूभूमि (धन्व शब्दो मरूदेश वचन काशिका ४/२/१२१)। पतञ्जलि ने धन्वयोपधाद् वुञ् ४/२/१२१ सूत्र के प्रसग मे पारेधन्व और आष्टक धन्व इन दो रेगिस्तानो का नाम दिया है। काशिका मे ऐरावत धन्व का नाम और है। पारेधन्व का अर्थ है धन्वन पारम् पारेधन्व (पारेधन्व षष्ठ्या वा २/१/१८) अर्थात् मरूभूमि के उस पार का देश। राजस्थान की मरूभूमि या मारवाड का प्राचीन नाम धन्व ज्ञात होता है। इस धन्व प्रदेश के पार पश्चिम मे आज भी सिन्ध प्रान्त का पूर्वी भाग पारकर कहलाता है। राजस्थान की मरूस्थली या धन्वस्थली मे स्थली शब्द पाणिनि के अनुसार प्राकृतिक मैदान का वाचक है। थर पारकर राजस्थान का थर और पजाब मे सिन्ध सागर दो–आब का रेगिस्तानी थल इन तीनो मे एक ही थल या स्थली शब्द है। मरूस्थली के उस पार प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिन्ध) से आने वाले व्यापारी सामान को पारे धन्वक कहते रहे होगे। आष्टक धन्व उत्तर – पश्चिमी पजाब मे अटक जिले का पुराना नाम ज्ञात होता है जिसे आज तक् धन्नी कहते है। धन्नी – पोटवार भौगोलिक नामो का प्रसिद्ध जोडा है जिसमे रावलपिण्डी और अटक जिले शामिल है। रावलपिण्डी पहाडी और अटक रेगिस्तानी प्रदेश है ये दोनो ही पूर्वी गन्धार के अग थे।

नगर और ग्राम

जनपद की भौगोलिक इकाई के अनतर्गत मनुष्यो के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे भी छोटे स्थानो को घोष ६/२/८५ और खेडो को खेट ६/२/१२६ कहा जाता था।

पाणिनि ने कही तो ग्राम और नगर मे भेद माना है यथा – प्राचा ग्राम नगराणाम् ७/३/१४ और कही ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है जैसे – वाहीक ग्रमम ४/२/११७ उदीच्य ग्राम ४/२/१०६। पतजलि ने

कहा है कि कितनी जनसख्या होने से ग्राम और कितनी जनसख्या से नगर कहलाते है इस विषय मे लोक का प्रमाण मानना चाहिए। वैयाकरण के लिए इस पर विचार करना या तर्क वितर्क करना ठीक नही है। वस्तुत स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत मे गॉव बहुत छोटे और नगर बडे जन–सन्निवेश होते थे उनका जनसख्या कृत भेद सच्चा था इसी से पाणिनि ने भी पूर्व देश मे ग्राम और नगर को पृथक माना किन्तु वाहीक या पजाब मे ग्रम बहुत समृद्ध जनकेन्द्र थे। यूनानी भूगोल – लेखको ने लिखा है कि उत्तर – पश्चिम प्रदेश और पजाब मे ५०० ऐसे ग्राम थे जिनकी जनसख्या पॉच से दस सहस्र के लगभग थी। स्वय पाणिनि की गणसूची से इस बडी ग्राम सख्या का समर्थन होता है। अतएव वाहीक देश मे ग्राम और नगर का भेद बोलचाल मे न रह गया था वहॉ दस–दस सहस्र के नगर भी ग्राम ही कहे जाते थे। यही वस्तुस्थिति वाहीक ग्राम और उदीच्य ग्राम शब्दो से प्रकट होती है जहॉ ग्राम शब्द नगर और गॉव दोनो का बोध कराता है।

अवश्य ही पाणिनि ने इस प्रदेश की छान–बीन बडे विस्तार से की थी। इधर–उधर से कुछ मनचाहा बटोर लेने की आकस्मिक शैली से पाणिनीय सामग्री का जन्म नही माना जा सकता । उसके पीछे भौगोलिक सामग्री का पुष्कल ब्यौरेवार सङग्रह अवश्य रहा होगा। यही स्वाभाविक पद्धति पाणिनीय सामग्री की ठीक–ठीक व्याख्या करती है। इन स्थानो (गॉवो और नगरो) मे रहने वालो के व्याह – बिरादरी जाति – पॉत और व्यापारिक लेन – देन के सम्बन्ध दूर – दूर तक फैले हुए थे। वे लोग जीवन के विविध क्षेत्रो मे एक दूसरे के साथ खूब गुथ गये थे। स्थान नामो से बने हुए चातुरर्थिक शब्द नित्य प्रति की भाषा के आवश्यक अङग बने हुए थे। पाणिनि ने उसी शब्द सामग्री का व्यावस्थित सूचीबद्ध सकलन किया था अन्यथा तद्धित का वह चातुरर्थिक महाप्रकरण बन ही न पाता। उस समय के स्थान नाम वर्तमान लोकभाषा से बिल्कुल तो मिट न गये होगे वे परिवर्तित रूपो मे आजकल के स्थान नामो मे बचे पडे होने चाहिए। इसी आधार पर पाणिनीय सामग्री की पहचान आगे बढायी जा

सकती है। आचार्य के लिए छोटा या बडा कोई भी जनपद व्याकरण की दृष्टि से छोडने योग्य न था। यही बात जनपदो मे बसी हुई जाति और उपजातियो के विषय मे भी ठीक थी। वे जातियो और उनके अल्ल आज भी लोक मे और भाषा मे हिले – मिल पाये जाते है।

स्थान नामो के अन्त मे आने वाले शब्द या उत्तरपद

भारतीय स्थान नामो के अन्त मे जो शब्द आते है उनका भी परिचय अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है।

तीर, रुप्य ४/२/१०६

काशिका मे काकतीर पल्लवतीर और वृकरूप्य शिवरूप्य नाम मिलते हैं। पाणिनि ने स्वय 'कास्तीर एक नगर का नाम दिया है (६/१/१५५)। पतञ्जलि के अनुसार यह वाहीक ग्राम था।

प्रस्थ ४/२/११०, ४/२/१२२

प्रस्थान्त नाम कुरुक्षेत्र और कुरु जनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहॉ प्रस्थ की जगह पत स्थान नामो के अन्त मे पाया जाता है यथा – पानीपत बागपत सोनीपत आदि। ज्ञात होताा है कि प्रस्थान्त नाम मूल मे हिमालय के प्रदेश मे थे जहॉ से आर्यो की किसी शाखा के साथ ये इस प्रदेश मे लाये गये।

वह ४/२/१२२

वहान्त नामो का पाणिनीय उदाहरण पीलुवह है ६/३/१२१। काशिका मे कुछ उदाहरण है यथा– फल्गुनीवह ऋषीवह पिण्डवह मुनिवह दारुवह। फाल्गुनीवह आधुनिक फगवाडे (पजाब) का नाम प्रतीत होता है।

पुर ४/२/१२२

प्राचीन स्थान नामो के अन्त मे जुडने वाला यह महत्वपूर्ण उत्तर पद था जो अद्यावधि प्रचलित है। पाणिनि ने ६/२/१०० एव ६/२/१०१ मे

अरिष्टपुर गौडपुर हास्तिनपुर फलकपुर मार्देयपुर का उल्लेख किया है। अरिष्टपुर शिवि जनपद मे शिवि क्षत्रियो की राजधानी थी गौडपुर गौड देश या बगाल मे था। हास्तिनपुर कुरू जनपद की प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर सम्भवत फिल्लोर (जनपद जलन्धर) और मार्देयपुर मण्डावर (जनपद बिजनौर) था।

कच्छ ४/२/१२६

कच्छान्त नामो का व्यवहार समुद्र तट के रेवाकॉठे से सिन्ध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका मे दारूकच्छ और पिप्पलीकच्छ उदाहरण मिलते है।

अग्नि ४/२/१२६

जैसा कि नाम से स्पष्ट है जलता हुआ ऊसर (सस्कृत इरिण) प्रदेश अग्नि कहलाता था। काशिका मे विभुजाग्नि और काण्डाग्नि दो नाम मिलते है। विभुजाग्नि कच्छ भुज के उत्तरपश्चिम के बडे रन का काण्डाग्नि उसके उत्तर पूर्व के छोटे रन (जहॉ कॉडला है) का नाम था।

गर्त ४/२/१२६

गर्त उत्तर पद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। काशिका मे इस सूत्र पर चक्रगर्त और बहुगर्त इन भौगोलिक नामो का जोडा उदाहरण स्वरूप दिया है। बहुगर्त सम्भवत साबरमती (प्राचीन श्वभ्रमती) के कॉठे का नाम था जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गडढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त सम्भवत प्रभास क्षेत्र मे स्थित चक्रतीर्थ सूत्र पर काशिका मे वृकगर्त और श्रृगालगर्त नाम भी आये है।

नगर ४/२/१४२

पुर की भॉति प्राचीन स्थान नामो के अन्त मे जुडने वाला यह महत्वपूर्ण उत्तरपद था जो कि अद्यावधि प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनो भागो मे नगर का प्रयोग होता था।

अमहन्नव नगरेऽनुदीचा ६/२/८६ सूत्र मे महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरो का नाम मिलता है। कास्तीर और अजस्तुन्द नाम के नगरो का भी सूत्र मे उल्लेख है। (६/१/१५१)

पलद ४/२/१४२

दाक्षिपलद और माहिकिपलद इसके उदाहरण स्वरूप काशिका मे दिये है। अथर्ववेद के अनुसार पलद का अर्थ फूँस या पयार होता था।[1] (अथर्व ६/३/५, ७१ पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के झुण्डो के लिए पलद शब्द लोक मे प्रचलित था और जो गॉव उनके पास बसाये जाते थे उनके नाम मे पलद उत्तरपद का प्रयोग होता था।

ह्रद ४/२/१४२

पानी की नीची दह के पास बसे हुए गॉवो के नामो मे ह्रद जुडता था यथा दाक्षिह्रद।

अर्म ६/२/९०, ९१

ज्ञात होता है किसी समय अर्मान्त नामो का विशेष प्रचार था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऊजड गॉव को अर्म कहते थे। सरस्वती के उत्तर मे स्थूलार्म नामक एक ह्रद का वर्णन है जहॉ के जगल मे सौ गायो का वश बढते बढते एक सहस्र हो गया था[1] पाणिनीय सूत्रो मे – भूतार्म अधिकार्म सजीवार्म मद्रार्म अश्मार्म कज्जलार्म का उल्लेख है। इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कालान्तर मे भाषा से लुप्त हो गया। हो सकता है यह मूल शब्द म्लेच्छ भाषा का हो। म्लेच्छ (सेमेटिक) परिवार की अरमाइक भाषा मे अरम ऊबड–खाबड पथरीले पहाडी प्रदेश को कहते है। अरमाइक उन लोगो की भाषा थी जो अरम या पर्वतीय प्रदेशो के निवासी थे।

कूल,सूद, स्थूल, कर्ष ६/२/१२९

काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामो मे आते थे। कपिस्थल (करनाल जनपद मे कैथल) अभी भी पुराने नाम से प्रसिद्ध

---

१ ताण्डय १५/१०/१८।

है। काबुल (कुभाकूल) और गोमल (गोमतीकूल) नामो मे कूल उत्तरपद ज्ञात होता है। स्थाननाम वाची शब्दो के अन्त मे सूद का उल्लेख कल्हण ने किया है जहाँ दामोदर के बसाये स्थान को दामोदर सूद कहा गया है।

सूत्रों में परिगणित स्थान नाम

जो नाम सूत्रो मे पढे गये है उनकी प्रामाणिकता सर्वोपरि हे ऐसे नामो का उल्लेख आवश्यक है।

ऐषुकारिभक्त ४/२/५४

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद मे इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध सुन्दर और स्फीत नगर था। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम असिका था उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है यद्यपि कुछ लोग उसका सम्बन्ध अरबी हिसार (किला) से लगाते है।

सकल ४/२/७५

यह आधुनिक सागलावाला टीबा (जनपद झग) है। यहाँ कठ क्षत्रियो का केन्द्र था।

सौवास्तव ४/२/७७

यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था।

वार्णव ४/२/७७, १०३

वर्णुनद के समीप स्थित नगर की सज्ञा वार्णव थी इसकी पहचान आधुनिक बन्नू से होती है।

रोडी ४/२/७८

सम्भवत रोडी (जनपद हिसार) जो शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है अथवा समीपत यह वीकानेर से १०० किमी० दूर रोणी नामक प्राचीन स्थान है।

वरणा ४/२/८२

वरण वृक्ष के समीप वसी होने के कारण इस बस्ती का नाम वरणा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था जो आश्वकायनो के राज्य मे

सिन्धु और स्वात नदियो के मध्य मे सबसे सुदृढ रक्षा स्थान था। यूनानी लेखको ने इसका नाम एओरनस दिया है जहॉ अस्सकेनोई (आश्वकायन) और सिकन्दर का युद्ध हुआ था। यूनानी भूगोल लेखको ने इस प्रदेश मे तीन लडाकू जातियो के नाम दिये है जिनके सस्कृत नाम और स्थान पाणिनीय भूगोल से इस प्रकार जाने जाते है –

१ अस्पेसिओई स्थान अलीशग या कुनड नदी की दून। सस्कृत नाम आश्वायन (अश्वादिगण ४/२/११०)।

२ अस्सकेनोई या अस्सकोई स्थान स्वात नदी की दून। सस्कृत नाम आश्वकायन या अश्वक (नडादिगण ४/१/९९)।

३ अस्तकेनोई स्थान स्वात और कुभा के सड्गम पर पुष्कलावती के समीप। सस्कृत नाम हास्तिनायन ६/४/१७४।

इस प्रकार कपिश से गन्धार की ओर बढते हुए सिकन्दर के मार्ग मे आश्वायन आश्वकायन और हास्तिनायन इन तीन आयुधजीवी सघो ने प्रतिरोध की अर्गला देकर उससे भयडकर युद्ध किया था। इनमे भी सबसे कठिन प्रतिरोध वरणा दुर्ग के वीर अश्वको ने ही किया था जिसमे पुरूष ही नही स्त्रिया भी युद्ध मे लडी थी।

शर्करा ४/२/८३

यह सिन्धु नदी के किनारे प्रसिद्ध सक्खर नामक स्थान हे। मार्कण्डेय पुराण मे जो ५८/३५ मे शर्करा जनपद का नाम आया है वह यही था।

आसन्दीवत् ४/२/८६, ८/२/१२

यह कुरूवशी परीक्षित के पुत्र जनमेजय की राजधानी का नाम था। इसी मे उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया था काशिका के अनुसार यह अहिस्थल था जो कुरूक्षेत्र के पास था।

नड्वल ४/२/८८

यह मारवाड का नाडौल नगर प्रतीत होता है।

शिखावल ४/२/८६

काशिका के अनुसार यह एक नगर था जो सम्भवत सेन नदी पर स्थित सिहावल नगर (रीवा रियासत) हो। दन्तशिखात्सञ्ज्ञायाम ५/२/११३ सूत्र मे पाणिनि ने शिखावल को सञ्ज्ञा कहा है।

कत्रि ४/२/६५

सम्भवत यह स्थान अल्मोडा जनपद का कत्यूर (कत्रिपुर) था।

कापिशी ४/२/६६

यह कापिशायन प्रान्त की राजधानी थी। काबुल से उत्तर–पूर्व हिन्दुकुश के दक्षिण आधुनिक वेग्राम प्राचीन कापिशी है जो घोरबन्द और पजशीर नदियो के सगम पर स्थित थी। वाल्हीक से वामियान होकर कपिश प्रान्त (कोहिस्तान – काफिरिस्तान) मे घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी व्यापार और सस्कृति का केन्द्र थी। बेग्राम मे मिले हुए एक शिलालेख मे कपिशा नाम आया है। यहॉ बनी हुई कापिशायन मधु नामक विशेष प्रकार की सुरा भारतवर्ष मे आती थी जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे किया है। प्लिनी के अनुसार छठी शताब्दी ई० पू० मे हखामनि वश के ईरानी सम्राट कुरूष् (५५८ – ५३० ई० पू०) ने कापिशी का विध्वस किया था। कालान्तर मे वह पुन समृद्ध हुई और अन्त मे हूणो द्वारा विध्वस हुई। कापिशी नगरी के सिक्को पर हाथी का चिह्न पाया गया है जो इन्द्र का ऐरावत ज्ञात होता है क्योकि यहॉ के उत्तरकालीन कुछ सिक्को पर यूनानी देवता जिपस (भारतीय इन्द्र) की मूर्ति मिली है।

तक्षशिला ४/३/६३

यह पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिन्धु एव विपाश के बीच के सब नगरो मे बडा और समृद्ध था। पाटलिपुत्र मथुरा और शाकल को पुष्कलावती कापिशी और वाल्हीक से मिलाने वाले उत्तरपथ नामक राजमार्ग पर तक्षशिला मुख्य व्यापारिक नगरी थी। पाणिनि काल से हूणो के समय तक तक्षशिला का प्राधान्य बना रहा।

शलातुर ४/३/६४

पाणिनि का जन्म स्थान जो सिन्धु – कुभा सगम के कोने मे ओहिन्द से चार मील पश्चिम मे था। यह स्थान इस समय लहुर कहलाता है।

कूचवार ४/३/६४

यह चीनी तुर्किस्तान मे उत्तरी तरिम उपत्यका का नाम था जिसका आधुनिक नाम कूचा है। चीनी भाषा मे आजकल इसे कूची कहते है। कूचा से प्राप्त अभिलेखो मे कूचा के राजाओ को कूचीश्वर कूचि महाराज कौचेय कौचेय वरेन्द्र कहा गया है। कूचा बहुत प्राचीन राज्य था। चीन से पश्चिम जाने वाले रेशम पथो पर कूचा प्रसिद्ध केन्द्र था। चीनी यात्री तुरफान से कूचा होकर काशगर आते थे। काशगर से कम्बोज (पामीर) और बाल्हीक (बल्ख) होते हुए भारतवर्ष मे प्रवेश करते थे। कूचा या मध्येशिया से कौचप या कोजव नामक ऊनी वस्त्र आया करते थे।

कास्तीर और अजस्तुन्द ६/१/१५५

पतञ्जलि ने कास्तीर को वाहीक ग्राम कहा है।

घोष ६/२/८५

अहीर ग्वालो का छोटा गॉव घोष कहलाता था।

महानगर और नवनगर ६/२/८६

ये दोनो प्राच्य भारत के स्थान नाम थे (अमहन्नव नगरेऽनुदीचाम्)। महानगर महास्थान (जिला बोगरा) का दूसरा नाम जान पडता है जो बगाल मे मौर्य काल से भी पुराना नगर था। उसी के साथ का नवनगर नवद्वीप का दूसरा नाम विदित होता है। महानगर उत्तरी बगाल और नवनगर पश्चिमी बगाल का प्रधान केन्द्र था। महानगर पुरानी राजधानी थी। यह पुण्ड्र देश का प्रधान नगर था इसीलिए इसे महास्थान या महानगर कहा गया। इसी के पश्चिम मे गगा के किनारे एक अन्य स्थान की आवश्यकता पडी जो पुण्ड्र देश के यातायात मे सहायक हो सके। यह

स्थान गौडपुर था जिसका पाणिनि ने ६/२/१०० मे उल्लेख किया है। पुण्ड्र या पौण्ड्र के देश से गुड के चालान का केन्द्र होने के कारण वह गौड पुर कहा गया होगा। कुछ समय पश्चात् पश्चिम बगाल मे भी व्यापार और आबादी के लिए क्षेत्र खुल गया और वहाँ एक नये केन्द्र की स्थापना हुई होगी जो उत्तरी बगाल की तुलना मे नवनगर कहा गया।

अरिष्टपुर ६/२/१००

बौद्ध साहित्य के अनुसार यह शिबि जनपद का अरिष्टपुर नाम का नगर था।

गौडपुर ६/२/१००

काशिका मे इसी सूत्र पर दिये हुए गौडभृत्यपुर उदाहरण से यह सकेत मिलता है कि गौडपुर और गौडभृत्यपुर दोनो प्राच्य देश के नगर थे।

हास्तिनपुर ६/२/१०१

वर्तमान हस्तिनापुर जनपद मेरठ।

फलकपुर ६/२/१०१

सम्भवत वर्तमान फिल्लौर जनपद जलन्धर था।

मार्देयपुर ६/२/१०१

सम्भवत मण्डावर जनपद बिजनौर जो अति प्राचीन स्थान है।

चिहणकन्थ ६/२/१२५

यह उशीनरदेश मे कन्थान्त नाम का नगर था।
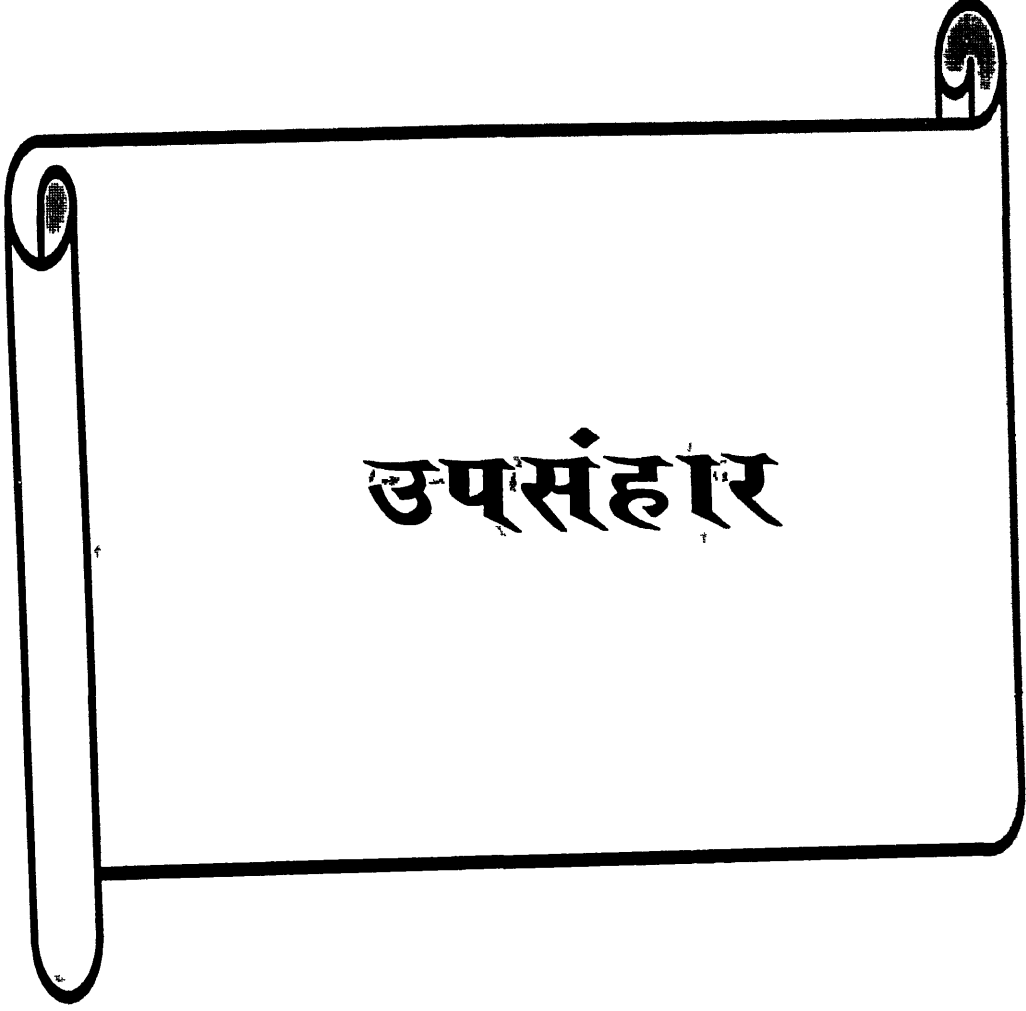
उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध पाणिनि प्रोक्त समाजव्यवस्थपरक शब्दो का आलोचनात्मक अध्ययन सात सोपानो मे निबद्ध है जिसे आवश्यकतानुसार उपशीर्षक मे विभक्त किया गया है।

प्रथम सोपान व्याकरण शास्त्र की परम्परा तथा आचार्य पाणिनि का जीवन चरित एव काल निर्धारण है। व्याकरण शास्त्र की परम्परा के अन्तर्गत व्याकरण की परिभाषा एव निष्पत्ति– व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयोऽनेन अस्मिन् वा तद् व्याकरणम् (वि+आङ्+कृ+ल्युट्) बताया गया है। व्याकरण क्यो पढना चाहिये व्याकरण की उत्पत्ति एव प्राचीनता भी इसी सोपान के अन्तर्गत विवेचित है। सस्कृत वाङमय मे इतस्तत विकीर्ण व्याकरण विषयक सामग्री यास्क के निरुक्त वेदो के विभिन्न प्रातिशाख्यो तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी मे उद्घृत अनेक वैयाकरणो के विविध मतो के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य पाणिनि से पूर्व वैयाकरणो की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। वैयाकरणो को तीन श्रेणियो मे– पूर्व पाणिनीय पाणिनीय एव उत्तर पाणिनीय मे विभक्त किया गया है।

इसी सोपान के अन्तर्गत पाणिनि के जीवन से सम्बन्धित सामग्री पर विचार किया गया है। इसमे चीनी यात्री ह्वेनसाग ने पाणिनि के जन्म स्थान शलातुर से जो जानकारी प्राप्त की थी उसका पतञ्जलि की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। इस अध्ययन से पाणिनि का जो चित्र प्राप्त होता वह एक ऐसे मेधावी और प्रतिभासम्पन्न आचार्य का चित्र है जिसने शब्दशास्त्र के प्रति अपने कर्तव्य को पहचाना था और उसकी पूर्ति के लिये समुचित प्रयत्न किया था।

द्वितीय सोपान अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दो मे परिलक्षित राजनीतिक जीवन मे एकराज जनपद और सघो के सम्बन्ध मे सामग्री का विवेचन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाणिनि की सबसे महत्त्व पूर्ण सामग्री जनपद संस्था पर नया प्रकाश डाला है। यूनान देश के इतिहास में जो महत्व पुर राज्यों का था वही भारतीय इतिहास में जनपदों का था। सच तो यह है कि भारत में जनपद राज्यों का प्रयोग देशकाल में उससे भी अधिक व्यापक और गम्भीर परिणाम वाला हुआ। एकराज और संघ दो प्रकार के जनपदों में भारतीय संस्कृति की मूल प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय एकरूपता का विकास जनपदों में हुआ। पाणिनि के युग में संघों का बाहुल्य था। लोक में संघ आदर्श का सर्वोपरि प्रचार था, यहाँ तक कि गोत्र, चरण, श्रेणि, निगम आदि सामूहिक संस्थाओं के संगठन और कार्यविधि की प्रेरणा संघ आदर्श से ही प्राप्त की जाती थी। तत्कालीन युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तन्त्र थे। राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्दों का प्रयोग होता था। राजा की मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी। वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियों को राजकृतः कहा जाता था पाणिनि ने उनके लिये राजकृत्व शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का भी उल्लेख किया है– सामाजिक परिषद्, चरणों के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद्, मन्त्रिपरिषद्। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे, उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था। भारतीय राजतन्त्र में पट्टमहिषी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसका भी महाभिषेक किया जाता था। शासन उपशीर्षक के अन्तर्गत शासनतन्त्र के अधिकारी यथा– अध्यक्ष, युक्त, कारकर और क्षेत्रकर आदि का तथा आयस्थान, शौण्डिक का भी विवेचन किया गया है। सेना उपशीर्षक के अन्तर्गत सेनानी, शस्त्रास्त्र, परिष्कन्द के बारे में भी शोध किया गया है। आयुधजीवी संघ, पर्वतीय संघ श्रेणी पूग को भी विवेचित किया गया है।

तृतीय सोपान 'अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्दों से परिलक्षित समाज' में सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित लगभग उन सभी बिन्दुओं को विवेचित

करने का प्रयास किया गया है जो सामाजिक जीवन के अग है। वर्ण एव जाति शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्रह्मचर्य की अवधि ब्राह्मण सभी का विस्तृत विवेचन है। जात्यन्ताच्छ बन्धुनि सूत्र मे बन्धुनि पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ–कुत्सापरक व्यग्य का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ। लूटमार कर जीविका चलाने वाले जगली हालत मे आर्यावर्त की सीमाओ पर बसे हुए उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय मे व्रात कहलाते थे। स्त्री एव विवाह उपशीर्षक के अन्तर्गत स्वकरण शब्द को व्याख्यायित किया गया है। पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन १/२/१६ शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या स्वकरण शब्द से इस सूत्र मे की गई है। सामाजिक सस्थाये उपशीर्षक के अन्तर्गत ज्ञाति वश सयुक्त सगोत्र सपिण्ड कुल अतिथि मित्र सनाभि पारिवारिक सम्बन्धी जनो आदि सभी शब्दो की व्याख्या की गई। नाभि का अर्थ गर्भनाल से समझना चाहिये। वस्त्र एव अलकार उपशीर्षक के अन्तर्गत वस्त्रो के विविध प्रकार– प्रावार कम्बल वृहतिका आदि की व्याख्या की गई है। ग्रैवेयक अगुलीय कर्णिका ललाटिका इन चार गहनो का सूत्रो मे उल्लेख है। परिवहन उपशीर्षक के अन्तर्गत तत्कालीन समाज के आने–जाने के साधनो का विवेचन है– रथ भस्त्रा शकट आश्वीन आदि। रथ विशेषकर मनुष्यो के आने जाने का यान था। रथो का समूह रथ्या या रथकटया कहलाता था। सेना मे भी रथो का उपयोग होता था। रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खीचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खीचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य कहा गया है। इतर साहित्य मे इन दोनो को वाहन अर्थात सवारी भी माना गया। काशिका मे रथ मॅढने के तीन उदाहरण है– वास्त्र काम्बल चार्म। प्राध्यव बन्धने गाडी और रथो के बनाने मे अन्तिम प्रक्रिया थी जिसके द्वारा उन्हे रस्सी या डोरियो से कसा जाता था। भिन्न प्रकार के मार्गो मे कौटिल्य ने रथ पथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसका अर्थ है कि वह रथ जो ऊबड–खाबड रास्ते पर भी ठीक ढग से चले।

चतुर्थ सोपान अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दो से परिलक्षित आर्थिक जीवन मे आर्थिक दशा का विवेचन है। इसमे शिल्प वेतन भृत्ति वाणिज्य व्यवसाय नापतोल ऋणदान इन विषयो की सामग्री पर विचार किया गया है। इनमे पाणिनि कालीन सिक्को की जानकारी भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओ पर नया प्रकाश डालती है। पुरातत्त्व के क्षेत्र मे जो सबसे पुराने सिक्के मिले है उनमे से अनेको के नामो की पहचान पहली ही बार अष्टाध्यायी की सामग्री से हो सकी है। सूत्र और उनकी टीकाओ मे विशतिक त्रिशत्क अर्धभाग शाण शतमान आदि सिक्को का परिचय प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध मे कराया गया है। गोधन के स्वामित्व की सूचना के लिये गायो के कानो पर अकित किये जाने वाले लक्षणो का विवेचन किया गया है। इस देश मे कृषि सम्बन्धी शब्दावली की जो परम्परा ऋग्वेद से चली आती है इस विषय मे खेतो के नामकरण बुवाई जुताई लवनी मणनी आदि के सम्बन्ध मे भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे विस्तृत रूप से विवेचन है। क्षेत्रकर खेत बनाने वाला यह उस अधिकारी की सज्ञा थी जो खेतो की नाप जोख करता था। वर्षा के पूर्वभाग के लिये प्रावृट विशिष्ट शब्द। उमा और भाग अलसी और माग के खेतो का भी उल्लेख है। कौटिल्य ने इसकी जगह अतसी एव शण कहा है। सीता हल की कूँड या फाड के लिये प्रयुक्त हुआ है। ब्रीहि एव शालि के खेत भी पृथक होते थे जो ब्रैहेय एव शालेय नामो से जाने जाते थे।

पञ्चम सोपान अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दो से परिलक्षित धर्म एव दर्शन मे धर्म एव दर्शन का विवेचन है। यज्ञ ऋत्विज दक्षिणा एव देवता तथा उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री सूत्रो मे आ गई है। यज्ञ उपशीर्षक के अन्तर्गत याज्ञिक यजमान आस्पद यज्ञाख्या सोम अग्न्याख्या वेदिया यज्ञार्थ उपकरण यज्ञ पात्र ऋत्विक विशेषज्ञ ऋत्विक सख्या ऋत्विजो के पृथक कर्म मन्त्रकरण उपयज दक्षिणा स्रौव सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। देवता उपशीर्षक के अन्तर्गत देवताओ उत्तरकालीन देवता भक्ति मूर्तियो आदि का भी विवेचन किया गया है।

मूर्तियो को जिनमे देवमूर्तिया भी सम्मिलित है प्रतिकृति कहा गया है। इसी अर्थ मे अर्चा इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मूर्ति रखने वाला पुजारी अर्चावान या आर्य कहलाता था। धार्मिक जीवन मे चान्द्रायण आदि व्रतो का समावेश हो चुका था जिसने अपने जीवन मे चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था– चान्द्रायण वर्तयति ५/१/७२। श्राद्ध मे भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाती था। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था। यदि आज किसी ने श्राद्ध खाया तो कल उसी को श्राद्धी नही कहा जाता था। ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन मे लोगो का विश्वास था। यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते है उन्हे पुण्याह या पुण्यरात्र कहते थे। उस युग मे दार्शनिक या तत्त्व चिन्तको के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य मे दिड्डियो का वर्गीकरण किया है जो जितना ही सक्षिप्त है उतना ही मूलभूत और तात्त्विक है। इन्द्र के लिये वृत्रहन मरुत्वत् और मघवन् के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी ४/२/२६ सूत्र मे उल्लिखित है। परलोक के लिये पाणिनि ने नि श्रेयस शब्द का उल्लेख अपने ५/४/७७ सूत्र मे किया है। उपनिषद् युग का मोक्ष परमानन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी मे निर्वाण शब्द का भी उल्लेख आया है।

षष्ठ–सोपान अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दो मे परिलक्षित शिक्षा एव साहित्य मे तत्कालीन शिक्षा एव साहित्य का विवेचन है। पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल मे वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुयी। नियमो का उल्लघन करने वाले छात्रो की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे जैसे– तीर्थध्वाक्ष तीर्थकाक। शिक्षा उपशीर्षक के अन्तर्गत गुरु प्रवक्ता श्रोत्रिय अध्यापक अध्याय आदि का विवेचन है। पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षको का उल्लेख किया है। १ आचार्य २ प्रवक्ता ३ श्रोत्रिय ४ अध्यापक। उपरोक्त मे आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। आचार्य के बाद प्रवक्ता का स्थान था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य

कहा है अर्थात शाखा ग्रन्थ ब्राह्मण श्रौतसूत्र आदि उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। छन्द या वेद की शाखाओ को कण्ठ करने वाला विद्वान श्रोत्रिय कहलाता था। स्त्री शिक्षा चरण छात्रो के नामकरण वैदिक छात्रो का नामकरण तद्विषयता का नियम आदि का विवेचन इस सोपान मे किया गया है। पारायण विधि द्वारा वेद वेदाङगो का कण्ठस्थ कर लेना शिक्षण विधि का एक अग था इससे तत्कालीन ज्ञान–साधन के यत्नो का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदो को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। आचार्य के जीवन पर छत्र के समान जो छाया रहता था उसे छात्र कहते थे। छात्र दो प्रकार के होते थे– १ दण्डमाणव २ अन्तेवासी।

साहित्य उपशीर्षक के अन्तर्गत प्रकथन लिपिकर इष्ट आदि शब्दो का विस्तार से वर्णन है। एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार की आशु कविता थी। पाणिनि ने पशुओ के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिह्न अकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। कई चिह्नो मे अष्ट और पञ्च भी है। साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है उसका सकेत करते हुए सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था। उन्होने समस्त साहित्य को इष्ट प्रोक्त उपज्ञात कृत और व्याख्यान इन रूपो मे विभक्त कर दिया।

सप्तम सोपान अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त शब्दो से परिलक्षित भूगोल मे तत्कालीन भौगोलिक सामग्री का अध्ययन किया गया है। अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द सामग्री का सञ्चय किया उसमे देश पर्वत वन नदियाँ प्रदेश जनपद नगर ग्राम इनसे सम्बन्धित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का सग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। भौगोलिक

सीमा विस्तार के अन्तर्गत देश एव जनपद उपशीर्षक के द्वारा सूत्रो मे पठित निश्चित स्थान नामो की सहायता से पाणिनि कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। सूत्रकाल मे जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुत भारतीय इतिहास मे युग विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे मद्रकार सौवीर गन्धार मगध सूरमस कलिग कोशल अजाद कुरू प्रत्यग्रथ साल्व और युगन्धर एव अन्य जनपदो की पहचान की गई है। इसके अतिरिक्त अश्मक कलकूट कम्बोज अवन्ति कुन्ति भौरिकि कापिशी काशि उशीनर मद्र वृजि कच्छ भारद्वाज रकु सिन्धु ब्राह्मणक केकय अम्बष्ठ त्रिगर्त आदि देश जनपदो की भी स्थिति निश्चित करने का प्रयास किया गया है। नदी उपशीर्षक के अन्तर्गत भिद्य एव उद्ध्य विपाश सुवास्तु सिन्धु रथस्या अजिरवती शरावती सरयू, देविका चर्मण्वती रूमण्वत् आदि की भी पहचान करके व्याख्या की गई है इसके अतिरिक्त धन्व नगर एव ग्राम उपशीर्षक के अन्तर्गत व्याख्यायित है।

📖📖📖📖📖

सहायक ग्रन्थ सूची

१ अष्टाध्यायी महर्षि पाणिनि सम्पादक एस सी वासु खण्ड १२ मोतीलाल वनारसी दास १६६२।

२ अष्टाध्यायी – प ब्रह्मदत्त जिज्ञासु– प्यारेलाल कपूर अमृतसर पञ्जाब।

३ अष्टाध्यायी सूत्र पाठ– सम्पादक शिवप्रसाद द्विवेदी भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली १६६३।

४ अमरकोश– टीकाकार प हरगोविन्द शास्त्री चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी १६६८।

५ अर्थशास्त्र– निर्णयसागर प्रेस बम्बई।

६ अर्थशास्त्र– गीता प्रेस गोरखपुर।

७ अथर्ववेद सहिता– स्वाध्याय मण्डले सतारा १६५६।

८ अथर्ववेद मे सास्कृतिक तत्त्व– पञ्चनद प्रकाशन इलाहाबाद सन १६६२।

६ अगुत्तर निकाय– पालिटेक्स्ट प्रकाशन।

१० अविमारक– भास– चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

११ आपस्तम्ब– ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना स १६५४।

१२ ऋग्वेद प्रातिशाख्य– सम्पादक मैक्समूलर १८७०।

१३ ऋग्वेद सहिता– सायण भाष्य वैदिक सशोधन मण्डल पूना सन १६३६।

१४ ऐतरेय ब्राह्मण– डा सुधाकर मालवीय तारा पब्लिकेशन वाराणसी १६७२।

१५ ऐतरेय आरण्यक– सायण भाष्य आनन्द आश्रम पूना १६६६।

१६ काशिका (सटिप्पण प्रकाश हिन्दी व्याख्योयेता) व्याख्याकार– श्रीनारायण मिश्र चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी १६६६।

१७ काशिका वृत्ति (न्यास पद मञ्जरी सहित) सम्पादक– द्वारका दास शास्त्री (प्रथम भाग) प्राच्य भारतीय प्रकाशन वाराणसी १६६५।

१८ कामसूत्र– जयमगला टीका चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

१६ कामसूत्र– वेकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई स १६६७।

२० गोपथ ब्राह्मण– राजेन्द्र लाल इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसी सन १६७२।

२१ गोभिल गृह्यसूत्र– उदयनारायण सिह मुजफ्फरपुर सवत १८६०।

२२ गीता रहस्य– तिलक बाल गगाधर– स्वाध्याय मण्डल सतारा।

२३ चरक सहिता– आयुर्वेद दीपिका चक्रपाणि प्रकाशन नामनगर सस्करण।

२४ चरक सहिता– दुर्गाशकर शास्त्री की टीका चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

२५ छान्दोग्य उपनिषद्– ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना स १६६८।

२६ तैत्तिरीय उपनिषद्– महादेव चिमणाजी आप्टे आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना १६६२।

२७ तैत्तिरीय ब्राह्मण– चौखम्भा सस्कृत सिरीज वाराणसी।

२८ दीघ निकाय– पालि टेक्स्ट प्रकाशन।

२६ पाणिनि परिचय– वासुदेव शरण अग्रवाल– चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १६६५।

३० पाणिनि कालीन भारत वर्ष– वासुदेव शरण अग्रवाल– चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी १६६६।

३१ प्राचीन भारत का इतिहा एव सस्कृति– डा के सी श्रीवास्तव यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद १६६१।

३२ प्राचीन भारत का सास्कृतिक इतिहास– जयशङकर मिश्र दिल्ली।

३३ प्राचीन भारत का इतिहास– झा श्रीमाली हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय १६८१।

३४ प्राचीन भारतीय कला– अभिनव सत्यदेव मूलचन्द प्रकाशन दिल्ली दरवाजा फैजाबाद १६६३।

३५ प्राचीन भारतीय सस्कृति कला राजनीति धर्म दर्शन– ईश्वरी प्रसाद मीनू पब्लिकेशन इलाहाबाद १६८४।

३६ प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन– रोमिला थापर हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली।

३७ प्राचीन भारत का सामाजिक आर्थिक धार्मिक एव सास्कृतिक इतिहास– एम पी श्रीवास्तव सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद १६८८।

३८ प्रमुख प्राचीन भारतीय तीर्थस्थान एव उनकी स्थिति– ए जी चन्द्रन– इण्डियन प्रेस मद्रास १६६६।

३६ बृहदारण्यक उपनिषद्– एक समीक्षात्मक अध्ययन– डा राममूर्ति शर्मा ईस्टर्न बुक लिकर्स दिल्ली II Ed।

४० बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक सार– गीता प्रेस गोरखपुर।

४१ भारत भूमि और उनके निवासी– जयचन्द्र शिवम् पब्लिकेशन दिल्ली।

४२ भारतीय भाषाओ का पर्यवेक्षण– ग्रियर्सन– ओरिण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना।

४३ भारत का वृहत इतिहास Vol I – मजूमदार रायचौधरी दत्त मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड १६५४।

४४ भारतीय वास्तुशास्त्र– वास्तुविद्या एव पुरानिवेश लखनऊ १९५५।

४५ भारतीय तीर्थस्थल– शान्तानन्द आश्रम हरिद्वार १९३५।

४६ मनुस्मृति व्याख्याकार जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे भारतीय विद्याभवन चौपाटी बम्बई १९७५।

४७ मनुस्मृति– ओरियण्टल सस्कृत टेक्स्ट ट्रयूबनर एण्ड को लन्दन १८८७।

४८ महाभारत– एस के बेलवलकर भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना।

४९ महाभारत श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल सतारा स २०११।

५० मैत्रायणी सहिता– बॉके बिहारी प्रकाशन आगरा स १९८६।

५१ यजुर्वेद भाष्य– वैदिक यन्त्रालय अजमेर सम्वत् २०१७।

५२ याज्ञवल्क्य स्मृति– आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि पूना स १९०३।

५३ याज्ञवल्क्य स्मृति– वेकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई १८१६।

५४ याज्ञवल्क्य स्मृति– जनार्दन शर्मा निर्णय सागर प्रेस बम्बई स १८०३।

५५ रामायणम– श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल सतारा स २०११।

५६ रामायण– वाल्मीकि प्रेस कलकत्ता।

५७ रामायण– टीकाकार श्रीनिवास कट्टिशास्त्री परिमल पब्लिकेशन दिल्ली स १९८३।

५८ रामचरित मानस– गीता प्रेस गोरखपुर।

५९ रघुवशम– मोतीलाल वनारसी दास।

६० लघु सिद्धान्त कौमुदी— भैमी व्याख्या भैमी प्रकाशन दिल्ली १६८८।

६१ लघु सिद्धान्त कौमुदी— श्रीधरानन्द शास्त्री मोतीलाल बनारसी दास १६७७।

६२ लघु सिद्धान्त कौमुदी— आद्या प्रसाद मिश्र अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद १६८५।

६३ लघु शब्देन्दु शेखर— नागेशभट्ट व्याख्याकार वेकटेश्वर शास्त्रि श्रीविद्या मुद्रणालय कुम्भकोणम १८४१।

६४ वाक्यपदीय— (श्री पुष्पराजकृत प्रकाशाख्य टीकापुतम)— व्रजविहारी दास & को बनारसी १८८२।

६५ व्याकरण महाभाष्य— अनुवादक एव टिप्पणी लेखक— डा अवनीन्द्र कुमार रतिराम शास्त्रि मेरठ।

६६ वाल्मीकि रामायण कोश— रामकुमार राय— चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी १६६५।

६७ वाजसनेयि सहिता— स्वाध्याय मण्डल सतारा स १६६१।

६८ वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास— चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी १६६५।

६६ शतपथ ब्राह्मण— सायण भाष्य— वेकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई सन् १८४०।

७० सस्कृत भाषा— टी बरो अनुवादक डा भोलानाथ व्यास चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी प्रथम सस्करण १६६५।

७१ सस्कृत व्याकरण प्रवेशिका— डा बाबूराम सक्सेना

७२ सस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन— डा भोलानाथ व्यास भारतीय ज्ञानपीठ काशी १६५७।

अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ

73 Dheeme - Panini and Vedas - London 1935

74 Goldstucker, Theodore - Panini Edited by S N Shastri Chowkhambha Sanskrit Series Varanasi

75 Bulletin of Deccan College Research Institute Poona

76 Bulletin of Sanskrit Institute Trivendrem

77 Proceedings of All India Oriental Conference